पता चलता है कि वे केवल पुराने शाश्वत और उच्छेदवाद से ही नहीं, बल्कि नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवाद से भी परिचित थे।'' (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२८)।

निरसन

मालवणिया जी का यह कथन समीचीन नहीं है। इस गाथा में वर्णित 'शाश्वत', 'उच्छेद' आदि परस्परविरोधी वाद नहीं हैं, अपितु जीवद्रव्य के परस्परविरुद्ध धर्मयुगल हैं। अतः यहाँ परस्पर विरोधी वादों के समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस गाथा में तो 'शाश्वत', 'उच्छेद' आदि परस्परविरुद्ध धर्मयुगलों के अस्तित्व से मुक्ति में जीव का अस्तित्व सिद्ध किया गया है, क्योंकि इन धर्मयुगलों का अस्तित्व मुक्ति में जीव के अस्तित्व के बिना संभव नहीं है। और मुक्ति में जीव का अस्तित्व सिद्ध कर आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जीव का अभाव मुक्ति है' इस **बौद्धमत** का जिनागम के अनुसार निरसन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में भी जिनागम के आधार पर जीव को अपेक्षाभेद से कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों सिद्ध कर 'जीव सर्वथा अकर्त्ता है' इस **सांख्यमत** को अस्वीकार किया है। (देखिए, आगे शीर्षक २.६)। इसी प्रकार 'जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है' तथा 'कर्त्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य' इन दोनों मतों को अपेक्षाभेद से सत्य सिद्ध करते हुए 'कर्त्ता अन्य ही होता है और भोक्ता अन्य ही' इस एकान्त **बौद्धमत** का निरसन किया है। देखिये **समयसार** की ये गाथाएँ—

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो॥ ३४५॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो॥ ३४६॥

जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४७॥

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४८॥

अनुवाद—''जीव कितनी ही पर्यायों से तो विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नहीं होता। इसलिए वही जीव कर्त्ता होता है या अन्य, इस विषय में एकान्त नहीं है (अर्थात् वही जीव भी कर्त्ता हो सकता है और अन्य जीव भी)।'' (३४५)।

''जीव कितनी ही पर्यायों से तो नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नहीं होता। इसलिए वही जीव भोक्ता होता है या अन्य, इस विषय में एकान्त नहीं है (अर्थात् वही जीव भी भोक्ता हो सकता है और अन्य जीव भी)।'' (३४६)।

"और जिसका ऐसा एकान्त सिद्धान्त है कि जो जीव कर्त्ता होता है, वही जीव भोक्ता नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है, अरहंत के मत का अनुयायी नहीं है।" (३४७)।

"तथा जो एकान्तरूप से ऐसा मानता है कि कर्त्ता कोई और होता है और भोक्ता कोई और, वह मिथ्यादृष्टि है, आर्हतमत का नहीं है।" (३४८)।

कथन का अभिप्राय यह है कि **बौद्धमत** एकान्त क्षणिकवादी है। उसके अनुसार सभी शरीरधारियों में रूप (रूप, रस आदि विषय), वेदना (सुख-दुःखानुभूति), विज्ञान (जानने की शक्ति), संज्ञा (मनुष्यादि नाम) और संस्कार (पुण्य-पापादि) ये पाँच स्कन्ध होते हैं, आत्मा नहीं होती। ये ही परलोक में जाते हैं।[१३०] ये पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं, अर्थात् एक ही क्षण तक ठहरते हैं और दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाते हैं।[१३०] किन्तु जैसे दीपक की पूर्वक्षणवर्ती ज्योति के नष्ट होने पर उत्तरक्षण में वैसी ही नयी ज्योति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पूर्वक्षणवर्ती पंचस्कन्धरूप शरीरधारी के नष्ट होने पर उत्तरक्षण में वैसा ही पंचस्कन्धरूप नया शरीरधारी उत्पन्न हो जाता है।[१३०] और यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक अन्तिम शरीरधारी का निर्वाण नहीं हो जाता। यतः पूर्वक्षणवर्ती पंचस्कन्धरूप शरीरधारी उत्तरक्षण में नष्ट हो जाता है, अतः वह अपने किये हुए पुण्यपाप का फल भोगने के लिए अवसर प्राप्त नहीं करता। इसलिए वह कर्त्ता ही होता है, भोक्ता नहीं। और चूँकि उत्तरक्षण में उत्पन्न हुए वैसे ही नये शरीरधारी को पूर्वक्षणवर्ती शरीरधारी के सदृश पुण्यपापरूप संस्कारस्कन्ध प्राप्त होता है, अतः वह उनका कर्त्ता न होते हुए भी भोक्ता होता है। इस तरह बौद्धमतानुसार कर्त्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य।

इसे अस्वीकार करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रत्येक जीव द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य होता है। वह भिन्न-भिन्न कालों में देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक पर्यायें धारण करता है, किन्तु अपने द्रव्यस्वरूप

१३०.क— "सौत्रान्तिकमतं पुनरिदम्-रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः सर्वशरीरिणामेते पञ्चस्कन्धा विद्यन्ते, न पुनरात्मा। त एव हि परलोकगामिनः।" षड्दर्शनसमुच्चय/तर्करहस्यदीपिका/बौद्धमत/कारिका ११/पृ. ७३।

ख—"ते च पञ्च स्कन्धाः क्षणमात्रावस्थायिन एव।" वही/कारिका ५/पृ. ४२।

ग—"ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि 'स एवायम्' इति ज्ञानम्? उच्यते—निरन्तरसदृशापरापरक्षण-निरीक्षणचैतन्योदयादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकायां दीपकलिकान्तरमिव तत्सदृशमपरं क्षणान्तरमुदयते, तेन समानाकार-ज्ञानपरम्परा-परिचय-चिरतर-परिणामान्निरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति।" वही/कारिका ७/पृ. ४८-४९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का परित्याग नहीं करता, अर्थात् उन पर्यायों में वह अविच्छिन्नरूप से विद्यमान रहता है, अतः मनुष्यादिपर्यायों में अपने द्वारा किये गये पुण्यपाप के सुखदुःखरूप फल को वह देवादिपर्यायों में भोगता है। इस तरह द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है। किन्तु देव-मनुष्यादि पर्यायें स्वरूप की अपेक्षा एक दूसरे से अन्य-अन्य होती हैं, इसलिए पर्यायार्थिकनय से मनुष्यादिरूप जीव पुण्यपाप करता है और देवादिरूप जीव उनके सुख-दुःख रूप फल का भोग करता है। इस अपेक्षा से कर्त्ता अन्य होता है और भोक्ता अन्य।[१३१]

इन उदाहरणों से प्रमाणित है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जैनेतर वादों का कहीं भी समन्वय नहीं किया, अपितु निरसन ही किया है। अतः पंचास्तिकाय की उपर्युक्त गाथा में विरोधी वादों का समन्वय मानना प्रामाणिक नहीं है, वह मालवणिया जी की स्वकल्पित मान्यता है। इसलिए उनकी यह धारणा भी काल्पनिक है कि आचार्य कुन्दकुन्द नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवाद से भी परिचित थे, अत एव वे उमास्वाति से परवर्ती हैं।

पं० मालवणिया जी ने शब्दसाम्य के कारण उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त 'शाश्वत', 'उच्छेद' आदि जीवधर्म-वाचक शब्दों से शाश्वतवाद, उच्छेदवाद आदि जैनेतर दार्शनिक वादों का उल्लेख मान लिया है। यह उनकी महान् भ्रान्ति है। ये शब्द तो संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य में नित्य, अनित्य आदि के अर्थ में बहुशः प्रयुक्त हुए हैं। 'शाश्वत', 'विज्ञान' शब्दों का प्रयोग तो 'नित्य' और 'ज्ञान' के अर्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं किया है। यथा—

एगो मे **सस्सदो** अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ ५९॥ भा.पा.।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह **सासयं** सुक्खं॥ ६०॥ भा.पा.।

---

१३१. उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥ २/९॥ प्रवचनसार।
जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि॥ २/२०॥ प्रवचनसार।
मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि॥ २/२१॥ प्रवचनसार।
दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो॥ २/२२॥ प्रवचनसार।

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य **विण्णाणं**।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो॥ २७१॥ स.सा.।

इन गाथाओं में आत्मा और सुख के विशेषण के रूप में 'शाश्वत' शब्द का तथा बुद्धि, मति आदि के समानार्थी के रूप में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे यहाँ 'शाश्वत' शब्द से 'शाश्वतवाद' और 'विज्ञान' शब्द से विज्ञानाद्वैतवाद का उल्लेख नहीं माना जा सकता, वैसे ही पंचास्तिकाय की उपर्युक्त गाथा में भी नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गाथा में विरोधी वादों के समन्वय का न तो कोई प्रसंग है, न कोई प्रयोजन तथा आचार्य कुन्दकुन्द जैसे वीतराग एवं निर्भीक आचार्य के द्वारा किसी बहाने से उक्त समन्वय किये जाने का तो कोई औचित्य ही बुद्धिगम्य नहीं होता। इन समस्त प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध होता है कि मालवणिया जी की उक्त मान्यता सर्वथा निराधार है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय की '**सस्सदमध विच्छेद**' इत्यादि गाथा में न तो विरोधी वादों का समन्वय किया है, न वे शून्यवाद एवं विज्ञानाद्वैतवाद से परिचित थे। अतः यह सिद्ध नहीं होता है कि वे तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति से उत्तरवर्ती थे।

२.३. विष्णुकर्तृत्व और आत्मकर्तृत्व दोनों अपसिद्धान्त

मालवणिया जी का मत

कुन्दकुन्द ने समयसार में ये तीन गाथाएँ कही हैं—

लोगस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये॥ ३२१॥

लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ॥ ३२२॥

एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हंपि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए॥ ३२३॥

इनका आशय बतलाते हुए मालवणिया जी कहते हैं—"आचार्य ने विष्णु के जगत्कर्तृत्व के मन्तव्य का भी समन्वय जैनदृष्टि से करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है कि व्यवहारनय के आश्रय से जैनसम्मत जीवकर्तृत्व में और लोकसम्मत विष्णु के जगत्कर्तृत्व में विशेष अन्तर नहीं है। इन दोनों मन्तव्यों को यदि पारमार्थिक माना जाय, तब दोष यह होगा कि दोनों के मत से मोक्ष की कल्पना असंगत हो जायेगी।"(न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२९)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निरसन

मालवणिया जी का यह आशय कुन्दकुन्द के कथन के सर्वथा विपरीत है। उनके कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि जैसे लौकिकजन विष्णु को जगत्कर्त्ता मानते हैं, वैसे ही कुन्दकुन्द के कथनानुसार जैन भी व्यवहारनय से आत्मा को जगत्कर्त्ता मानते हैं। यह मन्तव्य नितान्त मिथ्या है। उपर्युक्त गाथाओं में जो कहा गया है, वह इस प्रकार है—

"लौकिक जन मानते हैं कि देवों, नारकों, तिर्यंचों और मनुष्यों की सृष्टि विष्णु करते हैं, इसी प्रकार यदि श्रमण भी मानें कि षट्कायिक जीवों की सृष्टि आत्मा करता है, तो लौकिकों और श्रमणों का मत परकर्तृत्व की अपेक्षा समान ठहरेगा, उसमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देगा। एक विष्णु को जगत्कर्त्ता मानता है, दूसरा आत्मा को। दोनों की जगत्कर्तृत्व-मान्यता मिथ्या है। इसलिए इस मिथ्या मान्यता के कारण लौकिकों और श्रमणों, दोनों को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।"

इस प्रकार उक्त गाथाओं में कुन्दकुन्द ने तो यह कहा है कि विष्णु और आत्मा के द्वारा जगत् की सृष्टि किये जाने की मान्यता जिनागम-विरुद्ध है। इस तरह जब कुन्दकुन्द ने दोनों मान्यताओं को निरस्त ही कर दिया है, तब समन्वय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी दोनों सिद्धान्तों को अपसिद्धान्त[१३२] कहकर स्पष्ट कर दिया है कि वे जिनागममान्य नहीं हैं। इसलिए विष्णु के जगत्कर्तृत्व की मान्यता का कुन्दकुन्द के द्वारा जैनदृष्टि से समन्वय किया गया है, यह कथन कुन्दकुन्द के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। **जहाँ कुन्दकुन्द कहते हैं कि विष्णु के जगत्कर्तृत्व की मान्यता और आत्मा के जगत्कर्तृत्व की मान्यता दोनों समानरूप से मिथ्या हैं, वहाँ मालवणिया जी कहते हैं कि कुन्दकुन्द ने इन दोनों मान्यताओं को व्यवहारनय की अपेक्षा समानरूप से सत्य बतलाया है। कितना विपरीत प्रस्तुतीकरण है!** मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द को विष्णु और आत्मा दोनों के सृष्टिकर्तृत्व को स्वीकार करनेवाला घोषित कर दिया है। इसे पढ़कर तो जैनदर्शन और कुन्दकुन्द के सम्प्रदाय की मामूली सी जानकारी रखनेवाले को भी हँसी आये बिना न रहेगी। द्रष्टव्य है कि उक्त गाथाओं में कुन्दकुन्द ने निश्चय-व्यवहार शब्दों का प्रयोग किया ही नहीं है। मालवणिया जी ने अपने ही मन से 'व्यवहारनय' शब्द जोड़कर कुन्दकुन्द पर स्वाभीष्ट कथन आरोपित कर दिया है।

---

१३२. "ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते। लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोति इत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।" आत्मख्याति / समयसार / गा.३२१-३२३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२.४. शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग जिनोपदिष्ट

मालवणिया जी का मत

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रतिपादित जो भी सिद्धान्त श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं होता, उसे मालवणिया जी ने सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों से गृहीत मान लिया है। इस तथ्य को तो उन्होंने संभव ही नहीं माना कि वे सिद्धान्त कुन्दकुन्द को उनके परम्परागुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु से प्राप्त हुए थे। इसीलिए वे लिखते हैं—

"सांख्यकारिका में कहा है कि धर्म (पुण्य) से ऊर्ध्वगमन होता है, अधर्म (पाप) से अधोगमन होता है, किन्तु ज्ञान से मुक्ति मिलती है (कारिका ४४)। इसी बात को आचार्य (कुन्दकुन्द) ने जैन परिभाषा का प्रयोग करके प्रवचनसार (गा.१/९,११-१३,२/८९) में कहा है कि आत्मा के तीन अध्यवसाय होते हैं : शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभाध्यवसाय का फल स्वर्ग है, अशुभ का नरकादि और शुद्ध का मुक्ति।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३०)।

निरसन

यहाँ भी वही पूर्व प्रश्न खड़ा होता है कि मालवणिया जी को इस बात का ज्ञान किस प्रमाण से हुआ है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यकारिका में वर्णित धर्म, अधर्म और ज्ञान को आत्मा के शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोगों के नाम से[१३३] जैनदर्शन में समाविष्ट किया है और उनका उपदेश उन्हें अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त नहीं हुआ था? तथा जब कुन्दकुन्द स्वयं कह रहे हैं कि मैं श्रुतकेवली के उपदेश के अनुसार कथन कर रहा हूँ , तो मालवणिया जी ने इसे किस आधार पर अमान्य किया है? इन प्रश्नों का समाधान करनेवाले प्रमाण मालवणिया जी के उपर्युक्त कथन में नहीं हैं। अतः सिद्ध है कि उनका वक्तव्य अप्रामाणिक है।

फलस्वरूप यही प्रामाणिक ठहरता है कि कुन्दकुन्द को उपयोगत्रय का उपदेश गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था।

२.५. कर्तृत्व-अकर्तृत्व का निरूपण जिनागमाश्रित

मालवणिया जी का मत

मालवणिया जी का कथन है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यमत के समन्वय की दृष्टि

---

१३३. कुन्दकुन्द ने शुभ और अशुभ उपयोगों को ही अध्यवसान कहा है, शुद्धोपयोग को नहीं। अध्यवसान को उन्होंने बन्ध का कारण बतलाया है और शुद्धोपयोग को मोक्ष का। (समयसार / गा. २६३-२६४)।

से आत्मा को अकर्त्ता कहा है और 'जो परिणमनशील हो, वह कर्त्ता है' इस सांख्यसम्मत व्याप्ति के बल से आत्मा को कर्त्ता भी कहा है, क्योंकि वह परिणमनशील है। (न्या.वा.वृ. / प्रस्ता. / पृ.१२९)।

निरसन

किन्तु कुन्दकुन्द ने सांख्यमत का अनुकरण कर आत्मा को अकर्त्ता और कर्त्ता कहा है, जिनागम के आधार पर नहीं, यह निष्कर्ष मान्य विद्वान् ने किन प्रमाणों और युक्तियों के आश्रय से निकाला है, इसका उल्लेख नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उनका यह मत कपोलकल्पित है।

दूसरी बात यह है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में कहा है कि मैंने सम्पूर्ण तत्त्वनिरूपण श्रुतकेवली के उपदेश के आधार पर किया है, इस कथन को असत्य मानने का कोई कारण नहीं है।

तीसरी बात यह है कि द्रव्य का उत्पाद-व्यय अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना परिणमन कहलाता है, जैसे दूध का दही-अवस्था को अथवा जीव का अक्रोध से क्रोध दशा को प्राप्त होना। इसी को दूसरे शब्दों में इस तरह कहा जाता है कि दूध, दही का या जीव, क्रोध का उत्पादक, जन्मदाता या कर्त्ता है, क्योंकि दूध और जीव के क्रमशः दही और क्रोध-रूप परिणमन करने से ही दही एवं क्रोधरूप परिणाम या कार्य की उत्पत्ति होती है। इस तरह परिणमन करना और कर्त्ता होना एक ही बात है, अलग-अलग नहीं। जीवादि सभी द्रव्यों का इस प्रकार परिणामी होना तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्यों का स्वभावरूप से ही परिणमित होना और जीव तथा पुद्गल का स्वभाव-विभाव दोनों रूप से परिणमित होना, किन्तु परद्रव्यरूप से परिणमित न होना एवं परिणमन करनेवाले की ही 'कर्त्ता' संज्ञा होना, ये सभी द्रव्यस्वभाव जिनोपदिष्ट ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि इनके बिना जिनेन्द्रदेव का मोक्षोपदेश उपपन्न नहीं होता। यथा—

१. यदि जीव रागादि-विभाव रूप से परिणमित न हो, अर्थात् रागादिभाव का कर्त्ता न हो, तो उसके सदा शुद्ध रहने का प्रसंग आयेगा, तब वह मुक्त ही ठहरेगा। इस स्थिति में जिनेन्द्र भगवान् का जीवों के लिए मोक्ष-पौरुष करने का उपदेश निरर्थक सिद्ध होगा।

२. यदि रागादिभावों के कर्त्ता पुद्गलकर्म हों और कर्मबन्धन में जीव बँधे, तो जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म सदा रागादिभाव उत्पन्न करते रहेंगे, परिणामस्वरूप जीव सदा कर्मबन्धन में बँधता रहेगा। इस स्थिति में भी भगवान् का मोक्षोपदेश निरर्थक ठहरेगा।

३. यदि सांख्यमत की 'प्रकृति' के समान पुद्गलकर्म रागादिभाव करके जीव को कर्मबन्धन में बाँधें और मुक्त भी करें, तब रागादिभावों के समान सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररूप परिणमन भी पुद्गलकर्मों के ही द्वारा किये जाने का प्रसंग आयेगा। इससे जड़ पुद्गलकर्म आत्मा के समान चेतन सिद्ध होंगे। फलस्वरूप सम्यग्दर्शन के लिए पुद्गलकर्मों का अजीवतत्त्व के रूप में श्रद्धान करने का जिनोपदेश मिथ्या साबित होगा। अथवा पुद्गलकर्म जीव के बन्ध-मोक्ष-नियामक बन जाने से ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित हो जायेंगे। तब बन्धमोक्ष के विषय में जीव के परतंत्र सिद्ध होने से उसके लिए मोक्ष का उपदेश उपपन्न नहीं होगा।

अतः जीवादि सभी द्रव्यों का परिणामी होना, उनका यथायोग्य स्वभाव और विभावरूप से ही परिणमित होना, परद्रव्यरूप से परिणमित न होना एवं परिणमन करनेवाले की ही 'कर्त्ता' संज्ञा होना, इन द्रव्यस्वभावों के कारण ही जीवों के लिए जिनेन्द्रदेव के मोक्षोपदेश का औचित्य सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि ये द्रव्यस्वभाव जिनेन्द्रदेव द्वारा ही उपदिष्ट हैं। **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** इस तत्त्वार्थसूत्र में **उत्पादव्यय** शब्दों के द्वारा उपर्युक्त द्रव्यस्वभावों का निर्देश कर दिया गया है। इस सूत्र का आगमानुसारी होना तो श्वेताम्बरों को भी मान्य है। अतः यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त द्रव्यस्वभाव जिनागमोक्त हैं। तथा जब जीवादि द्रव्यों का यथायोग्य स्वभाव और विभावरूप से ही परिणमन संभव है, परद्रव्यरूप से नहीं, तब वे स्वभाव और विभाव के ही कर्त्ता सिद्ध होने से परद्रव्य के अकर्त्ता स्वतः सिद्ध होते हैं। इस प्रकार जीव के कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों धर्म जिनागमोक्त ही हैं। इसलिए मालवणिया जी का यह कथन युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यमत का अनुकरण कर जीव को कर्त्ता और अकर्त्ता कहा है। ऐसा कहकर तो उन्होंने श्वेताम्बर आगमों एवं तत्त्वार्थसूत्र को भी सांख्यदर्शन के आधार पर निर्मित सिद्ध कर दिया है, क्योंकि उनमें भी **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** सूत्र के अनुसार जीवादि-द्रव्यों को परिणमनशील, अत एव कर्त्ता-अकर्त्ता माना गया है। किन्तु चूँकि जीव को परिणमनशील या कर्त्ता-अकर्त्ता माने बिना उसका संसारी और मुक्त होना घटित नहीं होता, अतः उसके परिणमनशील या कर्त्ता-अकर्त्ता होने का उपदेश जिनेन्द्रदेव ने ही दिया है, यह तत्त्वार्थाधिगम के भाष्यकार ने भी स्वीकार किया है। यथा—

"उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च सतो लक्षणम्। यदिह मनुष्यत्वादिना पर्यायेण व्ययत आत्मनो देवत्वादिना पर्यायेणोत्पादः एकान्तध्रौव्ये आत्मनि तत्तथैकस्वभावतयाऽव-स्थाभेदानुपपत्तेः। एवं च संसारापवर्गभेदाभावः।" (५ / २९)।

अनुवाद—"सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। आत्मा का मनुष्यत्वादि-पर्याय से विनाश होता है और देवत्वादि पर्याय से उत्पाद होता है। यदि वह एकान्तरूप

से ध्रुव हो, तो उसके एकस्वभावात्मक ही होने का प्रसंग आयेगा, जिससे अवस्थाभेद घटित नहीं होगा। ऐसा होने पर उसकी संसार और मोक्ष अवस्थाएँ भी उपपन्न नहीं होंगी।''

इस प्रकार श्वेताम्बर-शास्त्रों में भी यह उल्लेख है कि जीव के परिणमनशील या कर्त्ता-अकर्त्ता होने का उपदेश भगवान् महावीर ने ही दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी भगवान् महावीर के ही उपदेश का अनुसरण कर जीव के कर्तृत्व-अकर्तृत्व का प्रतिपादन किया है। अतः श्वेताम्बरग्रन्थों से भी सिद्ध होता है कि मालवणिया जी का उपर्युक्त कथन प्रमाणविरुद्ध, अत एव स्वकल्पित है।

२.६. सांख्य और जैन मतों के पारस्परिक वैपरीत्य का प्रदर्शन

मालवणिया जी का मत

मालवणिया जी कहते हैं—''आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से यह जाना जाता है कि वे सांख्यदर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। जब वे आत्मा के अकर्तृत्व आदि का समर्थन करते हैं, तब वह प्रभाव स्पष्ट दिखता है। इतना ही नहीं, किन्तु सांख्यों की ही परिभाषा का प्रयोग करके उन्होंने संसारवर्णन भी किया है। सांख्यों के अनुसार प्रकृति और पुरुष का बन्ध ही संसार है। जैनागमों में प्रकृतिबन्ध नामक बन्ध का एक प्रकार माना गया है। अतएव आचार्य ने अन्य शब्दों की अपेक्षा प्रकृति शब्द को संसारवर्णन के प्रसंग में प्रयुक्त करके सांख्य ओर जैनदर्शन की समानता की ओर संकेत किया है।'' (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३०)।

निरसन

सर्वप्रथम तो यह कथन मिथ्या है कि कुन्दकुन्द सांख्यदर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। उन्होंने तो उन जैनश्रमणों को मिथ्यादृष्टि कहा है जो सांख्यमत की प्रकृति के समान पुद्गलकर्मों को ही जीव के रागादिभावों का कर्त्ता और जीव को उनका अकर्त्ता मानते थे। कुन्दकुन्द उनकी मान्यताओं का विस्तार से वर्णन करने के बाद **समयसार** में लिखते हैं—

एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे॥ ३४०॥

अनुवाद—''जो श्रमण इस प्रकार सांख्यमत का प्ररूपण करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही सब करती है और आत्मा सभी अकारक हैं।''

टीकाकार अमृतचन्द्र कुन्दकुन्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

''एवमीदृशं साङ्ख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति तेषां प्रकृतेरेकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेनाकर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्।''(आ.ख्या. / स.सा. / गा. ३३२-३४४)।

अनुवाद—''इस प्रकार कुछ श्रमणाभास स्वबुद्धि के दोष से आगम के अभिप्राय को समझे बिना ही सांख्यमत का अनुसरण करते हैं। उनके इस प्रकार प्रकृति (पुद्गलकर्मों) को एकान्त से कर्त्ता मान लेने पर सभी जीव सर्वथा अकर्त्ता सिद्ध हो जाते हैं। तब 'जीव कर्त्ता है' इस आगमवचन की अवमानना का दोष दूर करना दुष्कर है।''

इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द सांख्यदर्शन से अत्यन्त असहमत हैं। वे उसके इस मत को अमान्य करते हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्त्ता है। वे आत्मा के कथंचित् कर्त्ता होने का प्रतिपादन करते हैं, तथा प्रकृति (पुद्गलकर्मों) के सर्वथा कर्त्ता होने का भी निषेध करते हैं। इससे मालवणिया जी की यह स्थापना मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यमत के पुरुष-अकर्तृत्व का समर्थन किया है। तथा जब ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को जैनदर्शन में कर्मप्रकृति या 'प्रकृति' शब्द से भी अभिहित किया गया है, तब कुन्दकुन्द द्वारा कर्म के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाना सांख्यदर्शन का अनुकरण कैसे कहला सकता है? तथा सांख्य के प्रकृति और पुरुष एवं जैनदर्शन के पुद्गलकर्म और आत्मा के स्वरूपों में तो जमीन-आसमान का अन्तर है, तब 'कर्म' शब्द के स्थान में 'प्रकृति' शब्द के प्रयोग से कुन्दकुन्द ने दोनों की किस समानता की ओर संकेत किया है, इसका खुलासा माननीय मालवणिया जी ने नहीं किया। वस्तुतः कुन्दकुन्द ने सांख्य की प्रकृति के समान पुद्गलकर्मों को रागादिभावों का कर्त्ता तथा आत्मा को सांख्य के पुरुष के समान रागादिभावों का अकर्त्ता माननेवाले श्रमणों को जिनागमविरुद्ध मान्यता का अनुयायी कहकर सांख्यदर्शन और जैनदर्शन के पारस्परिक वैपरीत्य का संकेत किया है। इससे सिद्ध है कि मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द के मत को विपरीतरूप में प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द ने, न तो ब्रह्माद्वैत या विज्ञानाद्वैत का अनुकरण कर जैनदर्शन को अद्वैतवादी रूप दिया है, न ही सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर जीव के अकर्तृत्ववाद, परिणमनरूप-कर्तृत्ववाद एवं शुभाशुभ-शुद्धोपयोगवाद आदि नये वादों का जैनदर्शन में समावेश किया है। मालवणिया जी ने अपने कल्पना-प्रवण मस्तिष्क से तथ्यों को अँधेरे में ढकेल कर तथा मिथ्या एवं विपरीत व्याख्याएँ कर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उक्त नवीन वादों या मतों का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किया है। इसका प्रयोजन है तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में दार्शनिक विकास सिद्ध करना, जिससे कुन्दकुन्द को उमास्वाति से परवर्ती साबित किया जा सके। जिन उपर्युक्त वादों को मालवणिया जी ने जैनेतर दर्शनों से अनुकृत बतलाया है, वे वस्तुतः जिनोपदिष्ट ही हैं, यह ऊपर सप्रमाण-सयुक्ति सिद्ध किया जा चुका है। अतः कुन्दकुन्द के साहित्य में दार्शनिक विकास सिद्ध करने के लिए मालवणिया जी द्वारा प्रकल्पित प्रथम हेतु हेत्वाभास सिद्ध होकर विफल हो जाता है।

३

विषयवैविध्य एवं व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार अर्वाचीनता के लक्षण नहीं

मालवणिया जी-प्ररूपित विषयप्रतिपादनगत विशेषताएँ

अब द्वितीय हेतु विचारणीय है। द्वितीय हेतु के रूप में पं० दलसुख जी मालवणिया जी ने तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्य में प्रतिपाद्य विषय की विविधता और व्याख्या-दृष्टान्तादि-कृत विस्तार का उल्लेख किया है। इसके प्रमाण हेतु उन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्र और कुन्दकुन्दसाहित्य के विषयप्रतिपादन में निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी हैं। इन विशेषताओं का वर्णन माननीय मालवणिया जी ने 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' की प्रस्तावना में पृष्ठ ११९ से १४० तक किया है—

३.१. प्रमेयनिरूपणगत विशेषताएँ

१. उमास्वाति ने सात तत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन का विषय कहा है, किन्तु कुन्दकुन्द ने छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व इन सब का श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दृष्टि निरूपित किया है।

२. उमास्वाति ने जीवादि सात तत्त्वों को अर्थ कहा है। कुन्दकुन्द ने द्रव्य, गुण और पर्याय को भी 'अर्थ' संज्ञा दी है। (प्र.सा./१/८७)। इसे मालवणिया जी ने कुन्दकुन्द द्वारा किया गया नया प्रयोग बतलाया है।

३. कुन्दकुन्द ने द्रव्य को 'अर्थ' संज्ञा देकर तथा गुणपर्यायों को द्रव्य में ही समाविष्ट कर परमसंग्रहावलम्बी अभेदवाद का समर्थन किया है (प्र.सा./२/१,९), उमास्वाति ने ऐसा नहीं किया।

४. कुन्दकुन्द ने आगमोक्त द्रव्य-पर्याय, देह-आत्मा आदि के भेदाभेद को निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा स्पष्ट (युक्तियुक्त सिद्ध) किया है। (उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में निश्चय-व्यवहार के आश्रय से उक्त अनेकान्त का स्पष्टीकरण अनुपलब्ध है)।

५. द्रव्य और गुण-पर्याय का कुण्ड-बदरवत् आधाराधेयसम्बन्ध है या दण्डदण्डिवत् स्वस्वामिसम्बन्ध अथवा वैशेषिकसम्मत समवायसम्बन्ध, उमास्वाति ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। कुन्दकुन्द ने पृथक्त्व और अन्यत्व में भेद बतलाते हुए इसका युक्ति एवं दृष्टान्त द्वारा सम्यक् स्पष्टीकरण किया है। (प्र.सा./२/१४,१६)।

६. उमास्वाति ने केवल इतना कहा है कि द्रव्य गुणपर्याय-वियुक्त नहीं होता। कुन्दकुन्द ने इसे पल्लवित करके कहा है कि द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य। इसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना गुण। अर्थात् भाव (वस्तु) द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है (पं.का./गा.१२-१३)।

७. उमास्वाति ने सत् को उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है, किन्तु उत्पादादि का परस्पर और द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ कैसा सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट नहीं किया। वह कुन्दकुन्द ने किया है। (प्र.सा.२/८)।

८. कुन्दकुन्द ने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का समन्वय किया है (पं.का./१५,१९,६०), जो तत्त्वार्थसूत्र में अनुपलब्ध है।

९. उमास्वाति ने यह समाधान तो किया है कि धर्मादि द्रव्य अमूर्त हैं, अत एव सभी की एकत्र वृत्ति हो सकती है। किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि इन सभी की एकत्र वृत्ति हो सकती है, वे सभी परस्पर प्रविष्ट हैं, तो उन सभी की एकता क्यों न मानी जाय? इस प्रश्न का समाधान उमास्वाति ने नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है कि ऐसा होते हुए भी वे स्वभाव का परित्याग नहीं करते, इसलिए उनमें भेद बना रहता है। (पं.का./गा.७)।

१०. उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में स्याद्वाद का जो रूप है[१३४] वह आगमगत स्याद्वाद के विकास का सूचक नहीं है। भगवतीसूत्र की तरह उमास्वति ने भी भंगों में एकवचन आदि वचनभेदों को प्राधान्य दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने भंगों में वचनभेद को महत्त्व नहीं दिया है।

११. जैन आगमों और उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में द्रव्यों के साधर्म्य-वैधर्म्य के प्रकरण में रूपि और अरूपि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शब्दों के स्थान में मूर्त और अमूर्त शब्दों का प्रयोग किया है। (पं.का./गा.९९)।

---

१३४. तत्त्वार्थसूत्र में नहीं, अपितु उसके भाष्य (५/३१) में स्याद्वाद का रूप प्रदर्शित किया गया है। दोनों के कर्त्ता भिन्न-भिन्न हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इतना ही नहीं, गुणों को भी मूर्त और अमूर्त विभागों में विभक्त किया है। (प्र.सा. / २/३८-३९)।

१२. आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार नयों से पुद्गलद्रव्य की जो व्याख्या की है, वह अपूर्व है। उनका कहना है कि निश्चयनय की अपेक्षा से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य कहा जाना चाहिए और व्यवहारनय की अपेक्षा से स्कन्ध को पुद्गल कहना चाहिए। (नि.सा./गा.२९)। मालवणिया जी का अभिप्राय यह है कि उमास्वाति ने ऐसी व्याख्या नहीं की है, अतः कुन्दकुन्द की व्याख्या विकास का लक्षण है।

१३. आचार्य कुन्दकुन्द ने स्कन्ध के छह भेद बतलाये हैं, जो उमास्वाति के तत्त्वार्थ में तथा श्वेताम्बरीय आगमों में उस रूप में देखे नहीं जाते। वे छह भेद ये हैं—१. **अतिस्थूल**—पृथ्वी, पर्वतादि, २. **स्थूल**—घृत, जल, तैलादि, ३. **स्थूलसूक्ष्म**—छाया, आतप आदि, ४. **सूक्ष्म-स्थूल**—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत स्कन्ध, ५. **सूक्ष्म**—कार्मणवर्गणा-प्रायोग्य स्कन्ध तथा ६. **अतिसूक्ष्म**—जो कार्मणवर्गणा के भी योग्य न हों, वे स्कन्ध। (पं.का./ गा.७६ तथा नि.सा. / गा.२१-२४)।

१४. उमास्वाति ने परमाणु का जो लक्षण बतलाया है, कुन्दकुन्द ने उसे और भी स्पष्ट किया है। (पं.का./ गा.७७-८१, नि.सा./ गा.२५-२७)।

१५. श्वेताम्बर-आगमों में जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन विस्तार से है। कहीं-कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लेकर विरोध का समन्वय भी किया गया है। उमास्वाति ने भी जीव के वर्णन में सकर्मक (कर्मसहित) और अकर्मक (कर्मरहित) जीव का वर्णन मात्र कर दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के आगमोक्त वर्णन को समझने की चाबी बता दी है, जिसका उपयोग करके आगम के प्रत्येक वर्णन को हम समझ सकते हैं कि आत्मा के विषय में आगम में जो अमुक बात कही गई है, वह किस दृष्टि से है। जैन आगमों में निश्चय और व्यवहार ये दो दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल (लौकिक) और सूक्ष्म (तत्त्वग्राही) मानी जाती रही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मनिरूपण इन्हीं दो दृष्टियों का आश्रय लेकर किया है। आत्मा के पारमार्थिक शुद्धरूप का वर्णन निश्चयनय के आश्रय से और अशुद्ध या लौकिक (स्थूल) आत्मा का वर्णन व्यवहारनय से किया है। (न्या.वा.वृ./ प्रस्ता. / पृ.१२७-१२८)।

१६. कुन्दकुन्द ने आत्मा के तीन प्रकार बतलाये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। (मो.पा. / गा.४, नि.सा. / गा.१४९-१५१)। तत्त्वार्थसूत्र में इनका उल्लेख नहीं मिलता।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१७. परमात्म-वर्णन में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी समन्वयशक्ति का परिचय दिया है। अपने काल में 'स्वयम्भू' (ब्रह्मा) की प्रतिष्ठा को देखकर 'स्वयम्भू' शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए जैनसम्मत अर्थ में कर दिया है। (प्र.सा.१/१६)। इतना ही नहीं भावपाहुड (गा.१४९)में कर्मविमुक्त, शुद्ध आत्मा के लिए शिव, परमेष्ठिन्, विष्णु , चतुर्मुख, बुद्ध और परमात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि तत्त्वतः देखा जाय तो परमात्मा का रूप एक ही है, नाम भले ही नाना हों। (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१२८)।

१८. कुन्दकुन्द ने अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध 'सर्वगत' (सर्वव्यापक) शब्द का प्रयोग सर्वज्ञ के अर्थ में किया है। (प्र.सा.१/२३,२६)। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ऐसा नहीं किया।

१९. कुन्दकुन्द ने परिणमनशील होने के कारण आत्मादि द्रव्यों को कर्त्ता कहा है और उनके परिणाम को कर्म। (तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा कथन नहीं है)।

२०. कुन्दकुन्द ने आत्मा के शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों का वर्णन कर उन्हें क्रमशः स्वर्ग, नरक और मोक्ष का हेतु बतलाया है। (प्र.सा./१/९, ११-१३)। तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता ने इन उपयोगों का नाम भी नहीं लिया।

३.२. प्रमाणनिरूपणगत विशेषताएँ

यतः जिनागम में ज्ञान को प्रमाण कहा गया है, इसलिए **प्रमाणचर्चा** शीर्षक के नीचे माननीय मालवणिया जी लिखते हैं—"इतना तो किसी से छिपा नहीं रहता कि वाचक उमास्वाति की ज्ञानचर्चा से आ० कुन्दकुन्द की ज्ञानचर्चा में दार्शनिक विकास की मात्रा अधिक है। यह बात आगे की चर्चा से स्पष्ट हो सकेगी।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३४)। इस चर्चा में वे कहते हैं—

१. कुन्दकुन्द ने आत्मा के साथ ज्ञानादिगुणों का तथा ज्ञानगुण के साथ अन्य गुणों का अभेद प्रतिपादित कर एवं केवली भगवान् को निश्चयनय से केवल आत्मा को ही जाननेवाला कहकर जैनदर्शन को ब्रह्माद्वैतवाद और विज्ञानाद्वैतवाद के निकट रख दिया है। (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ. १३४-१३५)। तत्त्वार्थसूत्र में इसकी झलक नहीं मिलती।

२. "दार्शनिकों में यह एक विवाद का विषय रहा है कि ज्ञान को स्वप्रकाशक माना जाय या परप्रकाशक अथवा स्वपरप्रकाशक? वाचक (उमास्वाति) ने इस चर्चा को ज्ञान के विवेचन में छेड़ा ही नहीं है। सम्भवतः कुन्दकुन्द ही प्रथम जैन आचार्य हैं, जिन्होंने (नि.सा./गा.१६०-१७० में) ज्ञान को स्वपर-प्रकाशक मानकर इस चर्चा का सूत्रपात जैनदर्शन में किया है। आ० कुन्दकुन्द के बाद के सभी आचार्यों ने आचार्य के इस मन्तव्य को एकस्वर से माना है।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३५)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. उमास्वाति ने अव्यभिचारि, प्रशस्त और संगत ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है,[१३५] किन्तु कुन्दकुन्द ने संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है—'**संसयविमोह-विब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं**' (नि.सा. / गा.५१)। बौद्धादि दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में हेय और उपादेय शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी हेयोपादेय तत्त्वों के अधिगम को सम्यग्ज्ञान कहा है—'**अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं**' (नि.सा. / गा.५२)।

४. उमास्वाति ने पूर्वपरम्परा के अनुसार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों को क्षायोपशमिक और केवल को क्षायिक ज्ञान कहा है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने क्षायोपशमिक ज्ञानों के लिए विभावज्ञान और क्षायिकज्ञान के लिए स्वभावज्ञान शब्दों का प्रयोग किया है। (नि.सा./ गा.१०-१२,१५)।

५. कुन्दकुन्द ने उमास्वाति की तरह प्राचीन आगमों की व्यवस्था के अनुसार ही ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्व की व्यवस्था की है। किन्तु प्रवचनसार में प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्व को युक्ति से भी सिद्ध किया गया है। (प्र.सा./१/५७-५८)।

६. ज्ञप्ति का तात्पर्य अर्थात् ज्ञान से अर्थ को जानने का मतलब क्या है? क्या ज्ञान अर्थरूप हो जाता है, यानी ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है? या जैसा अर्थ का आकार होता है, वैसा ही आकार ज्ञान का हो जाता है? या ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट हो जाता है या अर्थ ज्ञान में? अथवा ज्ञान अर्थ में उत्पन्न होता है? इन प्रश्नों का उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द ने दूध के बर्तन में पड़े हुए इन्द्रनीलमणि के दृष्टान्त द्वारा दिया है। (प्र.सा./१/३०-३१)।

७. कुन्दकुन्द और उमास्वाति[१३६] दोनों ने केवली के ज्ञान और दर्शन का यौगपद्य माना है। विशेषता यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने यौगपद्य के समर्थन में दृष्टान्त दिया है कि जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप युगपद् होते हैं, वैसे ही केवली के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। (नि.सा./ गा.१६०)।

८. आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी अभेददृष्टि के अनुरूप निश्चयदृष्टि से सर्वज्ञ की नई व्याख्या की है और भेददृष्टि का अवलंबन कर व्यवहारनय से सर्वज्ञ की वही व्याख्या की है जो (श्वेताम्बरीय) आगमों में तथा उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में है।[१३७] अर्थात् निश्चयनय से केवली को केवल आत्मा का ज्ञाता कहा है और व्यवहारनय

१३५. यह अर्थ वस्तुतः तत्त्वार्थधिगमसूत्र के भाष्यकार ने किया है, जो तत्त्वार्थसूत्रकार से भिन्न हैं। (देखिए 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक षोडश अध्याय)।

१३६. "केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/३१।

१३७. "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।" तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/३०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

से समस्त द्रव्यों का। (नि.सा./गा.१५९)। तथा केवली के सर्वज्ञ (समस्त द्रव्यों का ज्ञाता) होने के यथार्थ को युक्ति से सिद्ध किया है। (प्र.सा./१/४७-५१)। अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों का ज्ञान होने के पक्ष में भी युक्तियाँ दी हैं। (प्र.सा./१/३७-३९)।

९. तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञानादि के लब्धि और उपयोग ये दो भेद ही मिलते हैं। कुन्दकुन्द ने उपलब्धि, भावना और उपयोग ये तीन भेद किये हैं। (पं.का./गा.४३.१)।

१०. पाँच ज्ञानों में से नयों का समावेश किस ज्ञान में होता है, उमास्वाति ने इसकी चर्चा नहीं की है। आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रुत के भेदों की चर्चा करते हुए नयों को भी श्रुत का एक भेद बतलाया है। उन्होंने श्रुत के भेद इस प्रकार किये हैं—लब्धि, भावना, उपयोग और नय (पं.का./गा.४३.२)।

३.३. नयनिरूपगणगत विशेषताएँ

कुन्दकुन्द की नय-निरूपण-विषयक विशेषताओं को परिगणित करते हुए मालवणिया जी लिखते हैं—

१. कुन्दकुन्द ने नयों के नैगमादि भेदों का वर्णन नहीं किया, किन्तु निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा मोक्षमार्ग का और तत्त्वों का पृथक्करण किया है। (श्वेताम्बर) आगमों में निश्चय और व्यवहार की चर्चा है। कुन्दकुन्द ने इन नयों की व्याख्या (श्वेताम्बरीय) आगमों के ही अनुकूल की है, किन्तु इनके अनुसार विचारणीय विषयों की अधिकता कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में स्पष्ट है। उन विषयों में आत्मादि कुछ विषय तो ऐसे हैं, जो आगम में भी हैं, किन्तु आगमिक वर्णन में यह नहीं बताया गया कि यह वचन अमुक नय का है। कुन्दकुन्द के विवेचन के प्रकाश में यदि आगमों के उन वाक्यों का बोध किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम के वे वाक्य किस नय के आश्रय से प्रयुक्त हुए हैं। (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३९)।

२. कुन्दकुन्द ने **समयसार** में कहा है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं॥ ८॥

यह कथन बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की **माध्यमिक कारिका** के इस कथन से समानता रखता है—

नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मालवणिया जी के कथन का अभिप्राय यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की उपर्युक्त गाथा की रचना **माध्यमिककारिका** की **'नान्यया भाषया म्लेच्छः'** इस कारिका के आधार पर की है।

निरसन

क

विषयवैविध्यादि अर्वाचीनता के लक्षण नहीं : इसके हेतु

उपर्युक्त विषय-प्रतिपादनगत विशेषताओं में हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकार की दार्शनिक मान्यताओं में कोई भेद नहीं हैं। दोनों की मान्यताएँ जिनागम-सम्मत हैं। अन्तर केवल यह है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय की विविधता विशेषीकरण, व्याख्या और शंकासमाधान आदि का समावेश है, जब कि तत्त्वार्थसूत्र में सूत्रात्मक संक्षिप्तता के लिए सूत्रकार ने षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दसाहित्य, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थों से प्राथमिक-शिष्योपयोगी मुख्य-मुख्य विषय ही चुनकर लिये हैं तथा विशेषीकरण, व्याख्या आदि को अधिकांशतः छोड़ दिया है। मालवणिया जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि "वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थ की रचना का प्रयोजन मुख्यतः संस्कृत भाषा में सूत्रशैली के ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति करना था।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.११८)। मेरी दृष्टि से न केवल सूत्रशैली के ग्रन्थ की, अपितु ३५७ सूत्रवाले लघुकाय ग्रन्थ की आवश्यकता पूर्ण करना सूत्रकार का प्रयोजन था। किन्तु कुन्दकुन्द का प्रयोजन सूत्रशैली के लघुकाय ग्रन्थ की रचना नहीं था, बल्कि पृथक्-पृथक् ग्रन्थ में पृथक्-पृथक् विषय का सूक्ष्म और सयुक्तिक विवेचन करना था। इसलिए जहाँ तत्त्वार्थसूत्रकार ने **'उपयोगो लक्षणम्'** कहकर दो शब्दों में जीव के लक्षण (द्रव्यस्वरूप) का निरूपण समाप्त कर दिया, वहाँ कुन्दकुन्द समयसार के जीवाजीवाधिकार की ६८ गाथाओं में जीव के लक्षण (द्रव्यस्वरूप) का विवेचन करते हुए थके नहीं, तथा जहाँ उमास्वामी ने आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के लक्षण एक-एक सूत्र में ही निबद्ध कर दिये हैं, वहाँ कुन्दकुन्द ने इनके निरूपण में एक-एक स्वतन्त्र अधिकार प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त जहाँ उमास्वामी ने जैनदर्शन का निरूपण केवल तत्त्वार्थसूत्र के ३५७ सूत्रों में ही सम्पन्न किया है, वहाँ कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अट्ठपाहुड, बारसअणुवेक्खा आदि अनेक ग्रन्थों में विस्तारित किया है। इतने से ही समझा जा सकता है कि कुन्दकुन्द का विषयप्रतिपादन उमास्वामी के विषयप्रतिपादन की अपेक्षा कितना विविध और व्यापक है। इस संक्षेप और विस्तार का कारण केवल प्रयोजनभेद है, काल की पूर्वापरता नहीं। प्राचीन ग्रन्थकर्त्ता का प्रयोजन यदि विविध विषयों या विषय के विविध पक्षों

का सयुक्तिक, सप्रमाण, सोदाहरण एवं सदृष्टान्त प्रतिपादन रहा हो, तो उसका विषय-विवेचन युक्तियों, प्रमाणों, उदाहरणों, दृष्टान्तों और व्याख्याओं से भरा हुआ, अत एव विस्तृत हो सकता है। इसके विपरीत कोई अर्वाचीन ग्रन्थकार किसी प्राचीन ग्रन्थ या ग्रन्थों के सार से लोगों को अवगत कराने के लिए सूत्रशैली में संक्षिप्त ग्रन्थ निबद्ध कर सकता है। दिगम्बरपरम्परा में ईसा की दसवीं शताब्दी में एक बृहत्प्रभाचन्द्र नाम के आचार्य हुए हैं। उन्होंने उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर उससे भी छोटा तत्त्वार्थसूत्र रचा है, जिसमें मात्र १०७ सूत्र हैं, जब कि उमास्वामिकृत प्राचीन तत्त्वार्थसूत्र में ३५७ सूत्र हैं। आठवीं शताब्दी ई० (७८० ई०) के वीरसेन स्वामी ने ६८३९ (२७ गाथा-सूत्रों सहित) सूत्रयुक्त पाँच खण्डोंवाले और ३०,००० श्लोक प्रमाण छठे खण्डवाले विशालकाय **षट्खण्डागम** पर ७२ हजार श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी है, जब कि दसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुए आचार्य नेमिचन्द्र ने षट्खण्डागम और उसकी धवलाटीका का सार गोम्मटसार में मात्र १७०६ गाथाओं में निबद्ध किया है।[१३८] ये इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि **ग्रन्थ के संक्षेप और विस्तार का कारण प्रयोजनभेद और कर्त्तागत रुचिभेद है, काल की पूर्वापरता नहीं।** यह बात स्वयं मान्य मालवणिया जी एवं उनके सहयोगी सम्पादकों ने **प्रज्ञापनासूत्र** की प्रस्तावना में स्वीकार की है। षट्खण्डागम और प्रज्ञापनासूत्र के रचनाकाल की पूर्वापरता का विचार करते हुए वे लिखते हैं—

" The style of treatment i.e., its simplicity or otherwise, can not be determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapana and Satkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subjet-matter in the Satkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapana sutra."[139]

अनुवाद—"इन ग्रन्थों (प्रज्ञापनासूत्र एवं षट्खण्डागम) की प्रतिपादनशैली की सरलता या कठिनता इनके रचनाकाल की पूर्वापरता का निर्णायक हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि शैली का स्वरूप ग्रन्थकर्त्ता के प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य विषय की सरलता या

---

१३८. जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥ ३९७॥ गोम्मटसार-कर्मकण्ड।

139. पण्णवणासुत्त / अँग्रेजी प्रस्तावना / पृष्ठ २३०/ सम्पादक-मुनि पुण्यविजय जी, पं० दलसुख मालवणिया, पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक / प्रकाशक, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई सन् १९६९ एवं १९७१, (षट्खण्डागम पु.१ / सम्पादकीय / पृष्ठ ५ एवं १० से उद्धृत)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सूक्ष्मता पर निर्भर होता है। इसलिए यदि हम प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के कालक्रम का निर्णय केवल इस आधार पर करें कि षट्खण्डागम के विषय का प्रतिपादन प्रज्ञापनासूत्र की अपेक्षा अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से किया गया है, तो यह भारी भूल होगी।''

इस युक्ति-प्रमाणसिद्ध तथ्य को ध्यान में रखते हुए विषयवैविध्य या विषयाधिकता के कारण कुन्दकुन्दसाहित्य को तत्त्वार्थसूत्र से उत्तरवर्ती मान लेना भारी भूल है। मान्य मालवणिया जी के विचारानुगामियों को इस भूल का परिहार करना चाहिए। इस भूल से श्वेताम्बर-आगम भी तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध होते हैं, क्योंकि—

१. सभी श्वेताम्बर अंगों एवं उपांगों में विषय-प्रतिपादन तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया गया है। जैसे ''**जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्**'' (त.सू.१/४) इस सूत्र को उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' में 'स्थानांग' के ''**नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो**'' (९/६६५) इस सूत्र पर आधारित बतलाया है और टिप्पणी में लिखा है—

''संक्षेप में सात तत्त्वरूप से वर्णन किये जाने में यह तत्त्व कहलाते हैं और विशेषरूप से वर्णन करने में यह पदार्थ कहलाते हैं। उस समय आस्रव और बन्ध से पाप और पुण्य पृथक् कर लिये जाते हैं। संक्षेप-विवक्षा में पाप और पुण्य का आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव कर दिया गया है। **स्थानाङ्ग में विस्तृत कथन होने से नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है। किन्तु सूत्रों में संग्रहनय के आश्रित होकर ही संक्षेप से कथन किया गया है।** अतः यहाँ सात तत्त्वों का वर्णन है।'' (पृ.६)।

इस कथन से यह बात पुष्ट होती है कि श्वेताम्बरागमों में तत्त्वों का विशेष या विस्तृत कथन है और तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य या संक्षिप्त कथन।

'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' में **तत्त्वार्थ** के सूत्रों का जिन श्वेताम्बरागमों के वाक्यों से साम्य दर्शाया गया है, वे सूत्ररूप न होकर व्याख्यारूप हैं। जैसे **द्विविधानि** (त.सू.२/१६) सूत्र का साम्य **प्रज्ञापना** के निम्नलिखित वाक्यों से प्रदर्शित किया गया है—

''**कईविहा णं भंते! इंदिया पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—दव्विंदिया य भाविदिया य।**'' (पद १५/उद्दे. १)।

अनुवाद—''भगवन्! इन्द्रियाँ कितने प्रकार की बतलायी गयी हैं? गौतम! इन्द्रियाँ दो प्रकार की बतलायी गयी हैं, यथा-द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ।''

ये दो वाक्य **द्विविधानि** के समान सूत्ररूप नहीं हैं, अपितु इनमें प्रश्नोत्तर के द्वारा **द्विविधानि** के अर्थ की व्याख्या की गयी है, अतः व्याख्यारूप हैं। इस तथ्य से शंकाग्रस्त होकर उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी ने अपने उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है—

"कुछ लोग यह शंका भी कर सकते हैं कि 'संभव है कि श्वेताम्बर-आगमों में तत्त्वार्थसूत्र के इन सूत्रों की ही व्याख्या की गई हो,' सो इस विषय में यह बात स्मरण रखने की है कि जैन इतिहास के अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आगमग्रन्थों का अस्तित्व उमास्वाति जी महाराज से भी पहले था। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र और जैन-आगमों का अध्ययन करने से यह स्वयं ही प्रकट हो जावेगा कि कौन किसका अनुकरण है।" (पृ.'ज')

इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर-आगमों में किया गया तत्त्वनिरूपण सूत्रात्मक या सामान्यरूप न होकर व्याख्यात्मक है। अतः व्याख्यात्मक या विशेषकथन को अर्वाचीनता का लक्षण मानने पर श्वेताम्बर-आगम तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध होंगे।

२. तत्त्वार्थसूत्र में निश्चय-व्यवहार नयों का उल्लेख नहीं है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में इन नयों के द्वारा विषय-प्रतिपादन किया गया है।[१४०] इस विषयाधिकता को विषय की नवीनता कहा जायेगा।

३. तत्त्वार्थसूत्र में सप्तभंगी का वर्णन नहीं है, व्याख्याप्रज्ञप्ति में विस्तार से किया गया है। इसे भी विषय की नवीनता मानना होगा।

४. तत्त्वार्थसूत्र में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध की हेतुभूत भावनाओं की संख्या सोलह ही बतलाई गई है। ज्ञाताधर्मकथांग में बीस का कथन है। यह विकास का लक्षण माना जायेगा।

---

१४०. "फाणियगुले णं भंते! कतिवण्णे कति गंधे कति रसे कति फासे पन्नत्ते? गोयमा! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—नेच्छयियनए य ववहारियनए य। ववहारियनयस्स गोडे फाणियगुले नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे पन्नत्ते।" (व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र/शतक १८ / उद्देशक ६ / पृष्ठ ७०४)।

प्रश्न— भगवन्! फाणित (गीला) गुड़ कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्शवाला कहा गया है?

उत्तर— गौतम! इस विषय में दो नय हैं, यथा—नैश्चयिकनय और व्यावहारिकनय। व्यावहारिकनय की अपेक्षा से फाणित गुड़ मधुर-रसवाला कहा गया है और नैश्चयिकनय से गुड़ पाँचवर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्शवाला कहा गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

५. तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह का लक्षण '**मूर्च्छा परिग्रहः**' इस छोटे से सूत्र में ही सीमित कर दिया गया है, जबकि दशवैकालिक सूत्र में उसका कई गाथाओं में वर्णन है, जिनमें निम्नलिखित दो गाथाएँ प्रमुख हैं—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा॥ ६/२०॥

इनमें दिगम्बरों द्वारा उठाई गई शंका का श्वेताम्बरमत के अनुसार समाधान भी किया गया है। यह विवेचनात्मक एवं शंकासमाधनात्मक विस्तार अर्वाचीनता की परिभाषा में आ जायेगा, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में इसका अभाव है।

६. मालवणिया जी ने लिखा है कि "जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन आगमों में विस्तार से है। कहीं-कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लेकर विरोध का समन्वय भी किया गया है। वाचक (उमास्वाति) ने भी जीव के वर्णन में सकर्मक (कर्मबद्ध) और अकर्मक (कर्ममुक्त) जीव का वर्णन मात्र कर दिया है।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ. १२७)। 'वर्णनमात्र कर दिया है' इस शब्दावली से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा आगमों में वर्णित विषय विस्तृत है। यह विषयविस्तार मालवणिया जी की ही मान्यतानुसार विकास की श्रेणी में परिगणित किया जायेगा और तब आगम तत्त्वार्थसूत्र से उत्तरवर्ती सिद्ध होंगे।

७. मालवणिया जी का एक वक्तव्य यह है कि "आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रन्थों में भेदज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। वे भी कहते हैं कि आत्मा मार्गणास्थान, गुणस्थान, नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव नहीं है, वह बाल, वृद्ध और तरुण नहीं है, वह राग, द्वेष, मोह नहीं है, क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं है, वह कर्म-नोकर्म नहीं है, उसमें वर्णादि नहीं हैं, इत्यादि भेदाभ्यास करना चाहिए। शुद्धात्मा का यह भेदाभ्यास (श्वेताम्बरीय) जैनागमों में भी मौजूद है ही। उसे ही पल्लवित करके आचार्य ने शुद्धात्मस्वरूप का वर्णन किया है।" (न्या.वा.वृ./प्रस्ता./पृ.१३३)।

किन्तु यह भेदाभ्यास तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है, इसलिए मालवणिया जी की परिभाषा के अनुसार श्वेताम्बर-आगमों का यह विषय तत्त्वार्थसूत्र के विषय की अपेक्षा नवीन माना जायेगा, जिससे आगम तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती सिद्ध होंगे।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८. आत्मा,[१४१] श्रमण, अद्धासमय (काल), निर्वाण,[१४२] सर्वज्ञ आदि अनेक संज्ञा-शब्द श्वेताम्बर आगमों में हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हैं। मालवणिया जी की नवीनता या विकास की परिभाषा के अनुसार आगमों में इन शब्दों की उपलब्धि को भी विकास मानना होगा और ऐसा मानने पर तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा आगमों के अर्वाचीन होने का प्रसंग आयेगा।

इस प्रकार विषय-वैविध्य एवं स्पष्टीकरण, व्याख्या, शंकासमाधान आदि को ग्रन्थ की अर्वाचीनता का लक्षण माना जाय, तो श्वेताम्बर-आगम भी तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन सिद्ध होंगे। किन्तु वे तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन नहीं हैं, इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त विशेषताएँ ग्रन्थ की अर्वाचीनता के लक्षण नहीं हैं। अर्वाचीन ग्रन्थों में भी प्रयोजनवश विषयसंक्षेप हो सकता है और उसके लिए विषय की विविधता एवं स्पष्टीकरण, व्याख्या आदि का परिहार किया जा सकता है। प्राथमिक शिष्यों के लिए परिमित और स्थूल विषयवाले ग्रन्थ ही उपयोगी होते हैं तथा प्रबुद्ध शिष्यों के लिए विस्तृत एवं सूक्ष्मविषय-वाले ग्रन्थ। दोनों प्रकार के शिष्य सदा विद्यमान रहते हैं, अतः दोनों प्रकार के ग्रन्थों की रचना सदा से होती आयी है और सदा होती रहेगी।

ख

विकासवादीमान्य-लक्षणानुसार तत्त्वार्थसूत्र में विकास भी है, विस्तार भी

यद्यपि विषयवैविध्य, विशेषीकरण, विभेदीकरण तथा व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार रचनाशैली के विकास एवं ग्रन्थ की अर्वाचीनता के लक्षण नहीं हैं, तथापि तत्त्वार्थसूत्र में व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार को छोड़कर ऐसा विषयवैविध्य या विषयविस्तार तथा विशेषीकरण-विभेदीकरण आदि विद्यमान हैं, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः जो विद्वान् इसे रचनागत विकास, अत एव ग्रन्थ की अर्वाचीनता का लक्षण मानते हैं, उनकी मान्यतानुसार भी तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में विद्यमान उपर्युक्त विशेषताओं के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. कुन्दकुन्द ने आस्रव के चार ही प्रत्यय बतलाये हैं : मिथ्यात्व, अविरमण (अविरति), कषाय और योग। (स.सा./ गा.१०९)। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने कषाय में

१४१. क — "अप्पणा अप्पणो कम्मक्खयं करितए" (आत्मनाऽऽत्मनः कर्मक्षयं कर्तुमिति)। ज्ञातृधर्मकथांगसूत्र / अध्ययन ५।
ख — "एगप्पा अजिए सत्तू" (अपना अविजित आत्मा ही एकमात्र शत्रु है)। उत्तराध्ययनसूत्र / २३ / ३८।

१४२. "निव्वाणं ति अबाहं ति।" उत्तराध्ययनसूत्र २३ / ८३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अन्तर्भूत प्रमाद को पृथक् दर्शाकर पाँच प्रत्यय प्रतिपादित किये हैं। (त.सू./८/१)। यह विशेषीकरण विकासवादियों की मान्यतानुसार प्रतिपादनशैली के विकास का उदाहरण है।

२. कुन्दकुन्द ने छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, पाँच अस्तिकायों और सात तत्त्वों का श्रद्धान करनेवाले को सम्यग्दृष्टि कहा है।[१४३] श्वेताम्बरीय 'स्थानांग' में भी नौ पदार्थों का ही कथन है।[१४४] किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य-पाप को आस्रव तत्त्व में गर्भित कर केवल सात तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। यह सामान्यीकरण भी विकासवादियों के मतानुसार प्रतिपादनशैली के विकास का उदाहरण है।

३. षट्खण्डागम[१४५] और कुन्दकुन्दसाहित्य[१४६] दोनों में ज्ञान के पाँच भेदों में से प्रथम ज्ञान को 'आभिनिबोधिकज्ञान' के नाम से तथा अज्ञान के तीन भेदों में से प्रथम अज्ञान को मत्यज्ञान या कुमतिज्ञान के नाम से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बरीय स्थानांगसूत्र में भी ऐसा ही है।[१४७] कुन्दकुन्द ने आभिनिबोधिकज्ञान को मतिज्ञान भी कहा है। (नि.सा./गा.१२)। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में 'आभिनिबोधिकज्ञान' शब्द का प्रयोग न कर 'मतिज्ञान' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१४८] यह चुनाव भी विकासवादियों के मत से प्रतिपादनशैली के विकास का उदाहरण सिद्ध होता है।

४. षट्खण्डागम में **'सण्णा सदी मदी चिंता चेदि'** सूत्र में संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता को एकार्थक बतलाया गया है। (ष.खं./पु.१३/५,५,४१/पृ.२४४)। कुन्दकुन्दसाहित्य में ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने उक्त चार पर्यायवाचियों में 'अभिनिबोध' को जोड़कर पाँच को एकार्थक प्रतिपादित किया है, यथा—**'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'** (१/१३)। यह भी विकासवादियों

---

१४३. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ १९॥ दंसणपाहुड।

१४४. "नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।" स्थानांगसूत्र ९/६६५ (तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय/पृ.६)।

१४५. "णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी, सुद-अण्णाणी, विभंगणाणी, आभिणिबोहियणाणी, सुदणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी, केवलणाणी चेदि।" (ष.खं./पु./१/१,१,११५)।

१४६. आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥ ४१॥ पंचास्तिकाय।

१४७. "पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे।" स्थानांगसूत्र ५/३/४६३ (तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय/पृ.९)।

१४८. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।" त.सू./१/९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की मान्यतानुसार प्रतिपादनशैली के ही विकास का नमूना है और पर्यायवाचियों के उल्लेख के रूप में व्याख्यागत विस्तार का निदर्शन भी है।

आगे वर्ण्य-विषय के विस्तार के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में निम्नलिखित विषयों का विशेष वर्णन है, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में उपलब्ध नहीं हैं—सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज भेद, निर्देशस्वामित्वादि एवं सत्संख्याक्षेत्रादि अनुयोगद्वार, ज्ञान की प्रमाण संज्ञा और प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्षभेद, मतिज्ञान के मति, स्मृति आदि नामान्तर, मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त, मतिज्ञान की अवग्रहादि अवस्थाएँ, अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ, श्रुतज्ञान की मतिपूर्वकता और उसके दो, अनेक एवं बारह भेद, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेद, स्वामी एवं विषय, केवलज्ञान का विषय, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में अन्तर तथा नैगमादिनय। इस दृष्टि से कुन्दकुन्द साहित्य की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में वर्ण्यविषय का विस्तार है।

तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय में जीव के औपशमिकादि पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेदों का भी वर्णन किया गया है, जिनका कुन्दकुन्दसाहित्य में अभाव है। पंचास्तिकाय में पाँच भावों के केवल नामों का ही उल्लेख है।[१४९] उक्त अध्याय में इन्द्रियों के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये दो भेद, विग्रहगति में होनेवाले कार्मण काययोग, गतिप्रकार, अनाहारक रहने का समय, मुक्तजीव की गति का स्वरूप, जन्म के सम्मूर्च्छनादि भेद और उनके स्वामी, जीवों की योनियों के प्रकार, शरीर के औदारिक आदि पाँच भेद और उनकी विशेषताएँ, जीवों की वेद-व्यवस्था और अनपवर्त्यायु के स्वामी, इन सब का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ इन विषयों के वर्णन से शून्य हैं।

तृतीय अध्याय में सात पृथिवियों, उनमें स्थित नरकों की संख्या, नारकियों की दशा, नारकियों की आयु, जम्बूद्वीप के क्षेत्रों, वर्षधरपर्वतों, उनपर स्थित सरोवरों, सरोवरों में स्थित कमलों, कमलों में निवास करनेवाली देवियों, चौदह नदियों और उनकी सहायक नदियों, वर्षधरपर्वतों के विस्तार, भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कालपरिवर्तन, कर्मभूमियों और भोगभूमियों की संख्या, उनमें रहनेवाले मुनष्यों और तिर्यंचों की आयु इत्यादि का निरूपण है, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में अनुपलब्ध है।

---

१४९. उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा॥ ५६॥ पञ्चास्तिकाय।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

चतुर्थ अध्याय के ४२ सूत्रों में देवों के चार निकायों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जब कि कुन्दकुन्दकृत **पंचास्तिकाय** की ११८वीं गाथा में **'देवा चउण्णि-काया'** (देवों के चार निकाय हैं), केवल इतनी सूचना दी गयी है।

समयसार (गा.१०९) में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को बन्धसामान्य का हेतु तथा पञ्चास्तिकाय (गा.१३५-१४०) में प्रशस्तराग, अनुकम्पासंश्रित परिणाम तथा अकालुष्य को पुण्यास्रव का एवं प्रमादबहुलचर्या, कालुष्य, विषयलोलता, परपरिताप और परापवाद को पापास्रव का कारण बतलाया गया है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठ अध्याय में प्रत्येक कर्म के विशिष्ट आस्रवहेतुओं का भी वर्णन किया गया है, जो अठारह सूत्रों में व्याप्त है। कुन्दकुन्दसाहित्य में यह उपलब्ध नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में द्रव्यकर्मों की ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों का तथा उनमें से प्रत्येक की उत्तर प्रकृतियों का खुलासा किया गया है और प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति भी बतलायी गयी है। कुन्दकुन्दसाहित्य में इसके कहीं भी दर्शन नहीं होते।

नौवें अध्याय में बाईस परीषहों का वर्णन कर यह दर्शाया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं। यह भी प्रदर्शित किया गया है कि आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान में से किस गुणस्थान का जीव किस ध्यान का स्वामी होता है। असंख्येय-गुणश्रेणि-निर्जरा के पात्रों का भी वर्णन है। पुलाक, बकुश आदि पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का भी निर्देश मिलता है। कुन्दकुन्दसाहित्य में इन सबका अभाव है।

इस प्रकार यदि विकास और विस्तार को अर्वाचीनता का लक्षण माना भी जाय, तो कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र में ये दोनों धर्म उपलब्ध होते हैं, अतः इस हेतु से भी तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्दसाहित्य से परवर्ती सिद्ध होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध हो जाता है कि पं० दलसुख जी मालवणिया ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जिस दार्शनिक विकास की कल्पना कर उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार से परवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह कल्पना सर्वथा कपोलकल्पना है। तथा वर्ण्यविषय का विस्तार भी किसी ग्रन्थ के अर्वाचीन होने का अव्यभिचरित हेतु नहीं है। तथापि तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्दसाहित्य की अपेक्षा प्रतिपादन शैली का विकास एवं वर्ण्यविषय का विस्तार भी उपलब्ध होता है। अतः यदि इन हेतुओं की कसौटी पर कसा जाय, तो भी कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप पूर्व प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला यह तथ्य अक्षुण्ण रहता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

४

समस्त दार्शनिक तत्त्वों का अधिगम गुरुपरम्परा से

वस्तुतः मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने यह धारणा बना ली है कि "तीर्थंकरों ने सवस्त्र तीर्थ का उपदेश दिया था, इसलिए श्वेताम्बरमत ही प्राचीन है, दिगम्बरमत तो विक्रम की छठी शताब्दी में कुन्दकुन्द ने चलाया था और श्वेताम्बर आगमों के आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की थी।" किन्तु , कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ऐसे अनेक जैन-दार्शनिक-तत्त्व मिलते हैं, जो श्वेताम्बर-आगमों में उपलब्ध नहीं हैं। उनके बारे में श्वेताम्बर मुनियों और विद्वानों ने इस कल्पना को जन्म दिया है कि उनमें से कुछ तो कुन्दकुन्द ने स्वयं कल्पित किये हैं और अनेक का जैनेतर दर्शनों से अनुकरण किया है।

यह कल्पना कितनी निराधार है, यह ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों और युक्तियों से दृष्टिगोचर हो जाता है। कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो तत्त्वनिरूपण किया है, वह अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के उपदेश पर आधारित है, अतः जो दार्शनिक तत्त्व श्वेताम्बर-आगमों में नहीं मिलते, किन्तु कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलते हैं, वे कुन्दकुन्द को अपनी गुरुपरम्परा से ही प्राप्त हुए थे। जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में संघभेद हो जाने से श्वेताम्बरपरम्परा उन दार्शनिक तत्त्वों के उपदेश से वंचित रह गई,[१५०] इसी कारण उनके आगमों में वे दार्शनिक तत्त्व उपलब्ध नहीं होते। दिगम्बरजैन-परम्परा के प्रवर्तक कुन्दकुन्द नहीं थे, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से वह सिन्धुसभ्यता से भी पूर्ववर्ती है, इसका सप्रमाण प्रदर्शन पूर्व में किया जा चुका है।

---

१५०. श्वेताम्बराचार्यों का भी ऐसा कथन है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने आचार्य स्थूलभद्र को केवल दस पूर्वों का ही अर्थज्ञान दिया था, शेष चार पूर्वों का केवल शब्दज्ञान ही कराया था। (देखिये, षष्ठ अध्याय/ प्रकरण १/ शीर्षक ११)।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पञ्चम प्रकरण

डॉ० सागरमल जी के गुणस्थानविकासवाद एवं सप्तभंगीविकासवाद

१

गुणस्थानविकासवाद

डॉ० सागरमल जी ने कुन्दकुन्द को उमास्वाति का उत्तरवर्ती और पाँचवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने के लिए दो नये वाद कल्पित किये हैं : गुणस्थान-विकासवाद और सप्तभंगी-विकासवाद। उन्होंने इन मिथ्याधारणाओं को जन्म देने की कोशिश की है कि गुणस्थानसिद्धान्त और नयप्रमाण-सप्तभंगी भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं, अपितु आचार्य उमास्वाति के बाद के आचार्यों द्वारा विकसित किये गये हैं। वे लिखते हैं—

''वस्तुतः कुन्दकुन्द और उमास्वाति के काल का निर्णय करने के लिए कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों का विकासक्रम देखना पड़ेगा। यह बात सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान और सप्तभंगी का स्पष्ट निर्देश है। गुणस्थान का यह सिद्धान्त **समवायांग** के १४ जीवसमासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी इसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में भी इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की सभी दिगम्बर-टीकाओं में इन सिद्धान्तों के उल्लेख प्रचुरता से पाये जाते हैं। पूज्यपाद देवनन्दी यद्यपि सप्तभंगी-सिद्धान्त की चर्चा नहीं करते, परन्तु गुणस्थान की चर्चा तो वे भी कर रहे हैं। दिगम्बरपरम्परा में आगमरूप में मान्य षट्खण्डागम तो गुणस्थान की चर्चा पर ही स्थित है। उमास्वाति के **तत्त्वार्थ** में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्टरूप से यह सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं, अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धान्त के आधाररूप गुणस्थान के सिद्धान्त को वे कैसे छोड़ सकते थे? चाहे विस्ताररूप में चर्चा भले न करते, परन्तु उनका उल्लेख अवश्य करते।'' (जै. ध.या.स./पृ.२४८-२५०)।

वे एक अन्य ग्रन्थ में लिखते हैं—''हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहाँ उन्होंने चौदह

गुणस्थानों का स्पष्टरूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था, तो उमास्वाति ने अपने मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञटीका 'तत्त्वार्थभाष्य' में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्मनिर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती, तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है, उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थानसिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक, (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं।'' [१५१]

वे आगे कहते हैं—''ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग उन्हें 'जीवस्थान' कहता है, वहाँ प्रस्तुत 'जीवसमास' (ग्रन्थ) एवं षट्खण्डागम में उन्हें 'जीवसमास' कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम, ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर-आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती हैं और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करनेवाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालीन भी हैं।'' [१५२]

अपने कथन का उपसंहार करते हुए डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—''इससे यह फलित होता है कि जैनपरम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पाँचवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।''[१५२]--- इस प्रकार यदि गुणस्थान-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो मूलाचार, भगवती-आराधना, सर्वार्थसिद्धिटीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी

---

१५१. जीवसमास/भूमिका/पृ.IV-V, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
१५२. वही/पृ.V।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पञ्चम प्रकरण

डॉ० सागरमल जी के गुणस्थानविकासवाद एवं सप्तभंगीविकासवाद

१

गुणस्थानविकासवाद

डॉ० सागरमल जी ने कुन्दकुन्द को उमास्वाति का उत्तरवर्ती और पाँचवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने के लिए दो नये वाद कल्पित किये हैं : गुणस्थान-विकासवाद और सप्तभंगी-विकासवाद। उन्होंने इन मिथ्याधारणाओं को जन्म देने की कोशिश की है कि गुणस्थानसिद्धान्त और नयप्रमाण-सप्तभंगी भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं, अपितु आचार्य उमास्वाति के बाद के आचार्यों द्वारा विकसित किये गये हैं। वे लिखते हैं—

''वस्तुतः कुन्दकुन्द और उमास्वाति के काल का निर्णय करने के लिए कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों का विकासक्रम देखना पड़ेगा। यह बात सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान और सप्तभंगी का स्पष्ट निर्देश है। गुणस्थान का यह सिद्धान्त **समवायांग** के १४ जीवसमासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगमसाहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी इसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में भी इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की सभी दिगम्बर-टीकाओं में इन सिद्धान्तों के उल्लेख प्रचुरता से पाये जाते हैं। पूज्यपाद देवनन्दी यद्यपि सप्तभंगी-सिद्धान्त की चर्चा नहीं करते, परन्तु गुणस्थान की चर्चा तो वे भी कर रहे हैं। दिगम्बरपरम्परा में आगमरूप में मान्य षट्खण्डागम तो गुणस्थान की चर्चा पर ही स्थित है। उमास्वाति के **तत्त्वार्थ** में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्टरूप से यह सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं, अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धान्त के आधाररूप गुणस्थान के सिद्धान्त को वे कैसे छोड़ सकते थे? चाहे विस्ताररूप में चर्चा भले न करते, परन्तु उनका उल्लेख अवश्य करते।'' (जै. ध.या.स./पृ.२४८-२५०)।

वे एक अन्य ग्रन्थ में लिखते हैं—''हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहाँ उन्होंने चौदह

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गुणस्थानों का स्पष्टरूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था, तो उमास्वाति ने अपने मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञटीका 'तत्त्वार्थभाष्य' में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्मनिर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती, तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है, उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थानसिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक, (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं।''[१५१]

वे आगे कहते हैं—''ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग उन्हें 'जीवस्थान' कहता है, वहाँ प्रस्तुत 'जीवसमास' (ग्रन्थ) एवं षट्खण्डागम में उन्हें 'जीवसमास' कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम, ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर-आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती हैं और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करनेवाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालीन भी हैं।''[१५२]

अपने कथन का उपसंहार करते हुए डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—''इससे यह फलित होता है कि जैनपरम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पाँचवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।''[१५२]--- इस प्रकार यदि गुणस्थान-सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो मूलाचार, भगवती-आराधना, सर्वार्थसिद्धिटीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी

---

१५१. जीवसमास/भूमिका/पृ.IV-V, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

१५२. वही/पृ.v।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ग्रन्थ लगभग छठी शती उत्तरार्द्ध के या उससे भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। निश्चय ही प्रस्तुत 'जीवसमास' और 'षट्खण्डागम' उनसे कुछ पूर्ववर्ती हैं।''[१५३]

२

गुणस्थानविकासवाद का निरसन

तत्त्वार्थसूत्र में सम्पूर्ण गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रकाशन

गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की यह मान्यता सर्वथा कपोलकल्पित है। तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त का पूर्ण अभाव बतलाना सत्य का महान् अपलाप है। सूत्रकार ने किसी स्वतन्त्र सूत्र में चौदह गुणस्थानों का नामोल्लेख नहीं किया है, किन्तु भिन्न-भिन्न सूत्रों में भिन्न-भिन्न गुणस्थानों का नामोल्लेख करते हुए , उनमें होने वाले परीषहों, ध्यान-प्रकारों, कर्मबन्ध और गुणश्रेणिनिर्जरा का आगमसम्मत विवेचन किया है। इस प्रकार सभी चौदह गुणस्थानों से सम्बन्धित विषयविशेष का विवेचन तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध है, जिससे सम्पूर्ण गुणस्थानसिद्धान्त प्रकाशित होता है। उदाहरण प्रस्तुत हैं—

२.१. गुणश्रेणिनिर्जरास्थान गुणस्थान ही हैं

तत्त्वार्थ के निम्नलिखित सूत्र में गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों का वर्णन है—

''**सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजकदर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।**'' (त.सू./९/४५)।

अनुवाद—''सम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्वोन्मुख अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि),[१५४] श्रावक (देशव्रती), विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन, इन दस स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।''[१५५]

इनमें सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, उपशान्तमोह, क्षीणमोह और जिन ये स्पष्टतः गुणस्थानों के नाम हैं। 'विरत' शब्द प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दोनों गुणस्थानों का ज्ञापक है। अनन्तवियोजक (अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करनेवाले) एवं दर्शनमोहक्षपक (दर्शनमोह का क्षय करनेवाले) चतुर्थ से सप्तम गुणस्थानवाले जीव होते हैं। अतः वे इन गुणस्थानों के विशेषण हैं। 'उपशमक' उपशमकश्रेणी[१५६] पर

१५३. वही/पृ.VI।

१५४. धवलाटीका / षट्खण्डागम / पु.१२ / ४,२,७ / गा.७-८ / हिन्दी अनुवाद / पृ.७८।

१५५. ''त एते दश सम्यग्दृष्ट्यादयः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।'' सर्वार्थसिद्धि / ९/ ४५।

१५६. क—''इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः—उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति।'' तत्त्वार्थराजवार्तिक / ९/१/१८/ पृ.५९०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आरूढ़ अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय, इन आठवें, नौवें एवं दसवें (तीन) गुणस्थानों की सामान्य संज्ञा है। इसी प्रकार 'क्षपक' क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ इन्हीं तीन गुणस्थानों का सामूहिक नाम है। 'जिन' शब्द सयोगिजिन और अयोगिजिन, इन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों का सूचक है।[१५६] इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र में आदि के तीन (मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थानों को छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानों का वर्णन है। गुणश्रेणिनिर्जरा का प्रकरण होने से आदि के तीन गुणस्थानों के निर्देश का यहाँ प्रयोजन नहीं था, क्योंकि उनमें अविपाक निर्जरा नहीं होती।

उपर्युक्त गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थानों की गुणस्थानात्मकता निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट हो जाती है—

गुणस्थानसमूह

०१. मिथ्यादृष्टि

०२. सासादनसम्यग्दृष्टि

०३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि

०४. असंयतसम्यग्दृष्टि ---------- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक

०५. संयतासंयत (श्रावक) -------- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक

०६. प्रमत्तसंयत (प्रमत्तविरत) ------ सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक

०७. अप्रमत्तसंयत (अप्रमत्तविरत)----- सामान्य / अनन्तवियोजक / दर्शनमोहक्षपक

०८. अपूर्वकरण ---------- उपशमक / क्षपक[१५६]

०९. अनिवृत्तिबादरसाम्पराय ---------- उपशमक / क्षपक[१५६]

१०. सूक्ष्मसाम्पराय ---------- उपशमक / क्षपक[१५६]

११. उपशान्तमोह

१२. क्षीणमोह

१३. सयोगिजिन

१४. अयोगिजिन

ख—"---अपूर्वकरणोपशमक-क्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक-सूक्ष्मसाम्परायोपशमक-क्षपकोपशान्त-क्षीणकषाय-सयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि।" आत्मख्याति / समयसार / गाथा ५०-५५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस चित्र से स्पष्ट हो जाता है कि **अनन्तवियोजक** और **दर्शनमोहक्षपक** स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं हैं, अपितु चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानों के ही विशिष्टरूप हैं। इसी प्रकार **उपशमक** और **क्षपक** भी पृथक् गुणस्थान नहीं हैं, बल्कि आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों की ही विशिष्ट अवस्थाएँ हैं।

२.१.१. **अनन्तवियोजक का अर्थ**—सूत्र में अनन्तवियोजक का उल्लेख हुआ है। अनन्तवियोजक का अर्थ है अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करनेवाला। विसंयोजना का अर्थ है अनन्तानुबन्धी के कर्मस्कन्धों का अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के रूप में परिणमित होना।[१५७] **विसंयोजना और क्षपणा में लक्षणभेद** बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं—

"**कम्मंतरसरूवेण संकमिय अवट्ठाणं विसंयोजणा, णोकम्मसरूवेण परिणामो खवणा त्ति अत्थि दोण्हं पि लक्खणभेदो।** --- अणंताणुबंधीणं व मिच्छत्तादीणं विसंजोयणपयडिभावो आइरिएहि किण्ण इच्छिज्जदे? ण, विसंजोयणभावं गंतूण पुणो णियमेण खवणभावमुवणमंति त्ति तत्थ तदणुब्भुवगमादो। ण च अणंताणुबंधीसु विसंजोइदासु अंतोमुहुत्तकालब्भंतरे तासिमकम्म-भावगमणणियमो अत्थि जेण तासिं विसंजोयणाए खवणसण्णा होज्ज। तदो अणंताणुबंधीणं व सेसविसंजोइदपयडीणं ण पुणरुप्पत्ती अत्थि त्ति सिद्धं।" (ज.ध./क.पा./भा.५/पृ.२०७-२०८)।

अनुवाद—"**किसी कर्म का दूसरे कर्म के रूप में संक्रमित होकर ठहरे रहना विसंयोजना है और कर्म का नोकर्मरूप से अर्थात् कर्माभावरूप से परिणमन होना क्षपणा है।** इस प्रकार दोनों में लक्षणभेद है। यदि प्रश्न किया जाय कि अनन्तानुबन्धी की तरह मिथ्यात्वादि प्रकृतियों को भी आचार्यों ने विसंयोजनाप्रकृति क्यों नहीं माना? (क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि में दर्शनमोह की मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियाँ उदयप्राप्त सम्यक्त्व-प्रकृति के रूप में संक्रमित होकर उदय में आती हैं), तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वादि प्रकृतियाँ विसंयोजनभाव को प्राप्त होकर नियम से क्षय को प्राप्त होती हैं, इसलिए उनमें विसंयोजनभाव नहीं माना गया है। किन्तु अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन होने पर अन्तर्मुहूर्त के भीतर उनके अकर्मभाव को प्राप्त होने का नियम नहीं है, जिससे उनकी विसंयोजना को क्षपणा संज्ञा प्राप्त हो सके। अतः अनन्तानुबन्धी की तरह शेष विसंयोजित प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यह सिद्ध हुआ।"

---

१५७. "अणंताणुबंधिचउक्कक्खंधाणं परसरूवेण परिणमणं विसंयोजणा।" जयधवला/कसायपाहुड/भा.२/२,२२/पृ.२१९। अर्थात् अनन्तानुबन्धी-चतुष्क के कर्मस्कन्धों का परपकृतिरूप (अप्रत्याख्यानावरणादि के रूप) में परिणमित होना विसंयोजना है।

"अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य दर्शनमोहत्रयस्य च उदयाभाव-लक्षणाऽप्रशस्तोपशमेन प्रसन्नमलपङ्कतोयसमानं यत्पदार्थश्रद्धानमुत्पद्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्वं नाम।" (जी. त. प्र./ गो.जी./ गा.६५०)।

अनुवाद—"अनन्तानुबन्धिचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक के उदयाभावरूप अप्रशस्त उपशम से मलपंक के नीचे बैठ जाने से निर्मल हुए जल की तरह जो पदार्थश्रद्धान होता है, उसका नाम उपशमसम्यक्त्व है।"

किन्तु कर्मसिद्धान्त के विशेषज्ञ स्व० पं० रतनचन्द जी जैन मुख्तार का कथन है कि उपशमसम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय परमुख से उदय में आती है। एक प्रश्न का समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

"उपशमसम्यक्त्व के काल में जो निषेक उदय होने योग्य होते हैं, उनमें दर्शनमोहनीय कर्म का द्रव्य नहीं होता, क्योंकि अन्तरकरण के द्वारा दर्शनमोहनीय का अन्तर कर दिया जाता है। इस अन्तर के पश्चात् द्वितीय स्थिति में स्थित दर्शनमोहनीय के द्रव्य का उपशम हो जाने से वह द्रव्य उदीरणा होकर उपशमसम्यक्त्व के काल में उदय में नहीं आता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी कर्म का अन्तर नहीं होता। उपशम-सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय का द्रव्य प्रतिसमय **स्तिबुकसंक्रमण** के द्वारा परप्रकृति-रूप संक्रमण होकर परमुखरूप उदय में आता है। वर्तमान समय से ऊपर के निषेकों में अनन्तानुबन्धी का द्रव्य उपशम रहता है, अर्थात् उदीरणा होकर वर्तमान समय में उदय में नहीं आता। उपशम मोहनीयकर्म का ही होता है, किन्तु स्तिबुकसंक्रमण ज्ञानावरणादि सात कर्मों में होता है, आयु कर्म में स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता।--- उदयावली के अन्दर ही स्तिबुकसंक्रमण होता है, उदयावली से बाह्य स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता है। उदयरूप निषेक के अनन्तर ऊपर के निषेक में अनुदयरूप प्रकृति के द्रव्य का उदयप्रकृतिरूप संक्रमण हो जाना स्तिबुकसंक्रमण है।" (पं. र. च. जैन मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व / भा.१ / पृ.५१७)।

लब्धिसार की १००वीं गाथा का विशेषार्थ बतलाते हुए भी पं० रतनचन्द्र जी मुख्तार ने लिखा है—"प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व तीन करण (अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण) होते हैं। अनिवृत्तिकरण काल का बहुभाग व्यतीत हो जाने पर दर्शनमोहनीय का अन्तर होकर उपशम होता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का न तो अन्तर होता है और न उपशम होता है। हाँ, परिणामों की विशुद्धता के कारण प्रतिसमय स्तिवुकसंक्रमण द्वारा अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रत्याख्यानादिकषायरूप परिणमन होकर परमुख उदय होता रहता है। प्रथमोपशम-सम्यक्त्व के काल में अधिक से अधिक छह आवलिकाल शेष रह जाने पर और कम से कम एक समय काल शेष रह जाने पर यदि परिणामों

की विशुद्धता में हानि हो जावे, तो अनन्तानुबन्धी-कषाय का स्तिवुकसंक्रमण रुक जाता है और अनन्तानुबन्धी का परमुख उदय की बजाय स्वमुख उदय आने के कारण प्रथमोपशम सम्यक्त्व की आसादना (विराधना) हो जाती है और प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर दूसरा सासादनगुणस्थान हो जाता है। मिथ्यात्वप्रकृति का अभी उदय नहीं हुआ, क्योंकि उसका अन्तर व उपशम है। अतः उसको मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया। अनन्तानुबन्धीकषायजनित विपरीताभिनिवेश हो जाने के कारण सम्यक्त्व की विराधना हो जाने से उसकी सासादन-सम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्व की विराधना-सहित) संज्ञा हो जाती है।'' (विशेषार्थ / लब्धिसार / गा. १००)।

जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता, उसका भी अनन्तानुबन्धीकर्म स्तिवुकसंक्रमण द्वारा अप्रत्याख्यानावरणादि के रूप में संक्रमित होकर उदय में आता है।

द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजनापूर्वक होता है, यह लब्धिसार की '**उवसमचरियाहिमुहो**' आदि गाथाओं (२०५, २०६) में कहा गया है। (देखिये, शीर्षक २.२)। श्री वीरसेन स्वामी का भी यही कथन है। उन्होंने उपशमक (उपशमकश्रेणि पर आरूढ़ होनेवाले जीव) की उपशमनविधि का वर्णन करते हुए लिखा है—

''**तत्थ ताव उवसामणविहिं वत्तइस्सामो। अणंताणुबंधिकोध-माण-माया-लोभ-सम्मत्तसम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि। सरूवं छंडिय अण्णपयडि-सरूवेणच्छणमणंताणु-बंधीणमुवसमो। दंसणतियस्स उदयाभावो उवसमो, तेसिमुव-संताणं पि ओकड्डुक्कड्डुण-पर-पयडि-संकमाणमत्थित्तादो।---**''(धवला / ष. खं. / पु.१ / १, १, २७ / पृ.२११)।

अनुवाद—''(उपशमनविधि और क्षपणविधि में से) पहले उपशमन-विधि का कथन करते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा मिथ्यात्व, इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानों में रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है। **अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृतिरूप से रहना अनन्तानुबन्धी का उपशम है। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उदय में नहीं आना ही उपशम है,** क्योंकि उपशान्त हुई उन तीन प्रकृतियों का उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूप से संक्रमण पाया जाता है।''

यहाँ उपशम का प्रकरण होने से वीरसेनस्वामी ने विसंयोजना को 'उपशम' शब्द से अभिहित किया है, किन्तु लक्षण विसंयोजना का ही है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी के

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उदयाभाव को नहीं, अपितु स्वरूप को छोड़कर परप्रकृतिरूप (अप्रत्याख्यानावरणादिरूप) में स्थित रहने को उपशम कहा गया है। इसे उन्होंने जयधवला में विसंयोजना ही कहा है। (देखिये, पा.टि.१५७)। षट्खण्डागम के अनुवादकों ने भी लिखा है— "अनन्तानुबन्धी के अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमण होने को ग्रन्थान्तरों में विसंयोजना कहा है और यहाँ पर द्वितीयोपशम का प्रकरण होने से उसे उपशम कहा है। सो यह केवल शब्दभेद है। स्वयं वीरसेन स्वामी को द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का अभाव (स्वरूप को छोड़कर अप्रत्याख्यानादिरूप से रहना) इष्ट है।" (ष.खं./ पु.१/१.१.२७ विशेषार्थ / पृ.२१५)। तात्पर्य यह कि लक्षण की दृष्टि से विसंयोजना और उपशम में भेद है, तथापि व्यवहारनय से उसे उपशम शब्द से अभिहित किया गया है।

क्षायिकसम्यक्त्व भी अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना से ही होता है,[१५८] किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टि में कभी मिथ्यात्व का उदय नहीं हो सकता, इसलिए विसंयोजित अनन्तानुबन्धी भी कभी संयोजित नहीं हो सकती, अतः उसका क्षय ही माना जाता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशमकश्रेणी पर भी आरूढ़ हो सकता है और क्षपक श्रेणी पर भी।[१५९] किन्तु द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि के लिए केवल उपशमश्रेणी पर ही आरोहण संभव है।

अनन्तानुबन्धीकषाय-चतुष्क की विसंयोजना चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानों में से किसी में भी हो सकती है, यह वीरसेनस्वामी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की जीवतत्त्व-प्रदीपिका-वृत्ति में भी ऐसा ही कहा गया है। (देखिये, पा.टि.१५८)। विसंयोजना क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही करता है।

श्वेताम्बर आचार्य श्री सिद्धसेनगणी और श्री हरिभद्रसूरि ने वियोजन का अर्थ 'क्षपण' या 'उपशमन' किया है,[१६०] इसी के आधार पर डॉ० सागरमल जी ने भी 'अनन्तवियोजक' से 'अनन्तानुबन्धी का क्षय करने वाला' अर्थ ग्रहण किया है।[१६१] यह आगमविरुद्ध है। उपशमन, क्षपण और विसंयोजना के लक्षण परस्पर अत्यन्त भिन्न

१५८. "असंयतादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽनिवृत्तिकरणपरिणामकालान्तर्मुहूर्तचरमसमयेऽनन्तानुबन्धि-कषायचतुष्कं युगपदेव विसंयोज्य द्वादशकषायनोकषायरूपेण परिणमय्य अन्तर्मुहूर्तकालं विश्रम्य ---मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वप्रकृतीः क्रमेण क्षपयति। ततः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भ-वति।" जीवतत्त्वप्रदीपिका / गोम्मटसार-कर्मकण्ड / गा.३३५-३३६।

१५९. "एवं सः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो ---।" सर्वार्थसिद्धि / ९ / ४५।

१६०. "अनन्तः संसारस्तदनुबन्धिनोऽनन्ताः क्रोधादयस्तान् वियोजयति क्षपयत्युपशमयति वा अनन्तवियोजकः।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / ९ / ४७।

१६१. गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण / पृ.१०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हैं, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यदि इनमें भेद न होता, तो तत्त्वार्थसूत्रकार 'वियोजक' शब्द का प्रयोग न कर 'क्षपक' या 'उपशमक' शब्द ही प्रयुक्त करते, जैसा कि 'दर्शनमोहक्षपक' और 'उपशमक' (चारित्र-मोहोपशमक) में किया है। 'दर्शनमोहक्षपक' में 'क्षपक' और 'अनन्तवियोजक' में 'वियोजक' शब्द का प्रयोग करने से स्पष्ट है कि 'वियोजक' का अर्थ 'क्षपक' से भिन्न है और वह वही है, जो ऊपर बतलाया गया है। वह कसायपाहुड की टीका जयधवला आदि से प्रमाणित है।

२.१.२. **अनन्तवियोजक-असंयतसम्यग्दृष्टि संयत से अधिक निर्जरायोग्य कैसे?**—उपर्युक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में अनन्तवियोजक असंयतसम्यग्दृष्टि और श्रावक को अनन्त-अवियोजक विरत (प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत मुनि) से असंख्येयगुणनिर्जरा के योग्य बतलाया गया है। इसकी युक्तियुक्तता के विषय में शङ्का उठना स्वाभाविक है, अतः वीरसेनस्वामी ने इसका समाधान निम्नलिखित शब्दों में किया है—

''संजमपरिणामेहिंतो अणंताणुबंधिं-विसंजोएंतस्स असंजदसम्मादिट्ठिस्स परिणामो अणंतगुणहीणो, कधं तत्तो असंखेज्जगुणपदेसणिज्जरा जायदे? ण एस दोसो, संजम-परिणामेहिंतो अणंताणुबंधीणं विसंजोजणाए कारणभूदाणं सम्मत्त-परिणामाणमणंतगुणत्तुवलंभादो। जदि सम्मत्तपरिणामेहि अणंताणुबंधीणं विसंजोजणा कीरदे, तो सव्वसम्माइट्ठीसु तब्भावो पसज्जदि त्ति वुत्ते ण, विसिट्ठेहि चेव सम्मत्त-परिणामेहि तव्विसंजोयणब्भुवगमादो।'' (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४, २, ७, १७८ / पृ. ८२)।

अनुवाद

शंका—''संयमरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करनेवाले असंयतसम्यग्दृष्टि का परिणाम अनन्तगुणाहीन होता है, ऐसी अवस्था में उससे असंख्यातगुणी प्रदेशनिर्जरा कैसे हो सकती है?''

समाधान—''यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संयमरूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारणभूत सम्यक्त्वरूप परिणाम अणंतगुणे उपलब्ध होते हैं।''

शंका—''यदि सम्यक्त्वरूप परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना की जाती है, तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग आता है?''

समाधान—''सब सम्यग्दृष्टियों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि विशिष्ट सम्यक्त्वरूप परिणामों के द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना स्वीकार की गयी है।''

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२.१.३. **गुणश्रेणिनिर्जरा का काल**—सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी लिखते हैं—"असंख्यात-गुणितक्रम-श्रेणिरूप से कर्मों की निर्जरा होना गुणश्रेणिनिर्जरा है। यह गुणश्रेणिनिर्जरा सर्वदा नहीं होती, किन्तु उपशमना और क्षपणा के कारणभूत परिणामों के द्वारा ही गुणश्रेणिरचना होकर यह निर्जरा होती है।" (स. सि. / विशेषार्थ / ९ / ४५)। वीरसेनस्वामी ने भी पूर्वोद्धृत कथन में कहा है कि अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारणभूत विशिष्ट-सम्यक्त्व-परिणामों से ही उक्त कषायों की विसंयोजना होती है। इसका तात्पर्य यह है कि विसंयोजना में कारणभूत उन्हीं परिणामों से अर्थात् विसंयोजनाकाल में ही असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से जिस गुणस्थानवाला जीव विसंयोजना करता है, उसके कर्मों की छठे गुणस्थानवर्ती संयत की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य पूज्यपाद-स्वामी ने इस प्रकार किया है—

"काललब्धि आदि साधनों को प्राप्त करनेवाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, पंचेन्द्रिय जीव विशुद्ध परिणामों की वृद्धि करता हुआ क्रमशः अपूर्वकरण आदि सोपानपंक्ति पर आरूढ़ होते हुए बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है। वही जीव प्रथमोपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर प्रथमोपशम-सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुण-कर्मनिर्जरा करता है। जब वह जीव अप्रत्याख्यानावरण-कषाय के क्षयोपशम में कारणभूत परिणामों की विशुद्धि से युक्त होता है, तब 'श्रावक' संज्ञा प्राप्त करता हुआ अपनी पूर्वोक्त अवस्था से असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। जब वह श्रावक प्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशम में निमित्तभूत परिणामों की विशुद्धि से युक्त होता है, तब वह 'विरत' संज्ञा धारण करता हुआ पूर्वकथित अवस्था से असंख्येयगुणनिर्जरा करता है। जब चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थानवाला जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में तत्पर होता है, तब वह विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष से 'विरत' की अपेक्षा असंख्येयगुण-निर्जरावाला होता है। जब चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थान का अनन्तानुबन्धि-विसंयोजक दर्शनमोह के क्षय में संलग्न होता है, तब परिणामविशुद्धि के अतिशय से 'दर्शनमोहक्षपक' नाम प्राप्त करता हुआ अपनी अनन्तानुबन्धि-विसंयोजक पूर्वावस्था से असंख्येयगुण-निर्जरा का स्वामी होता है। इस प्रकार वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि होकर श्रेणि पर आरोहण के सम्मुख होता हुआ तथा चारित्रमोह के उपशम का प्रयत्न करता हुआ विशुद्धि के प्रकर्षवश उपशमक संज्ञा का अनुभव करता है और पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण-निर्जरा करता है। वही जीव समस्त चारित्रमोह के उपशमक निमित्त मिलने पर उपशान्तकषाय संज्ञा को प्राप्त होता हुआ, पूर्वकथित निर्जरा से असंख्येयगुण-निर्जरा करता है। जो सप्तमगुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टि, चारित्रमोह के क्षपण के सम्मुख होता है, अर्थात् चारित्रमोह का क्षय करने के लिए क्षपकश्रेणी पर आरूढ़

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

होता है, वह परिणामों की विशुद्धि से बढ़ता हुआ और 'क्षपक' संज्ञा धारण करता हुआ उपशान्तकषाय को होनेवाली निर्जरा से असंख्येयगुण-निर्जरा का पात्र होता है। जब वह निःशेष चारित्रमोह के क्षपण में कारणभूत परिणामों के अभिमुख होता है, तब क्षीणकषाय नाम ग्रहण करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। पश्चात् वही मुनि द्वितीय शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिकर्मसमूह को दग्धकर 'जिन' संज्ञा धारण करता है और पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण-गुण निर्जरा करता है।" (सर्वार्थसिद्धि / ९ / ४५)।

वीरसेनस्वामी का कथन है कि मोहनीय के बन्ध, उदय व सत्त्व का अभाव हो जाने से कर्मनिर्जरा की शक्ति अनन्तगुणी वृद्धिंगत हो जाती है—"**मोहणीयस्स बंधुदयसंताभावेण वड्ढिदअणंतगुणकम्मणिज्जरणसत्तीदो।**" (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४,२, ७,१८३ / पृ.८४)। इसी प्रकार घातिया कर्मों के क्षीण हो जाने से कर्मनिर्जरा का परिणाम अनन्तगुणा बढ़ जाता है—"**घादिकम्मक्खएण वड्ढिदाणंतगुणकम्मणिज्जरणपरिणामादो**" (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४, २, ७, १८४ / पृ.८४)।

वीरसेनस्वामी ने 'जिन' के **स्वस्थान जिन** और **योग-निरोध में प्रवृत्त जिन,** ये दो भेद करके गुणश्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थान बतलाये हैं—"**जिणे त्ति भणिदे सत्थाणजिणाणं जोगिणिरोहे वावदजिणाणं च गहणं।**" (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४, २,७,७-८ गा. / पृ.७९)। गोम्मटसार-जीवकाण्ड (गा.६६) की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में भी इसी प्रकार ग्यारह स्थान कहे गये हैं—"**ततः स्वस्थानकेवलिजिनस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम्। ---इत्येकादशसु स्थानेषु गुणश्रेणिनिर्जरा-द्रव्यस्य प्रतिस्थानमसंख्यातगुणितत्वमुक्तम्।**"

उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों में भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित निर्जरा होती है, किन्तु नैगमनय से उनमें एकत्व ग्रहण कर एक-एक स्थान ही प्ररूपित किया गया है, जैसा कि वीरसेनस्वामी ने कहा है—"**--- णइगमणए अवलंबिज्जमाणे तिण्णमुवसामगाणं तिण्णं खवगाणं च एगत्तप्पणाए एक्कारसगुणसेडिणिज्जरुववत्तीदो।**" (धवला / ष.ख. / पु.१२ / ४,२,७,१८० / पृ.८३)।

विरत अर्थात् संयत के भी दे भेद हैं : प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। कोई अनादि-मिथ्यादृष्टि जब अनन्तानुबंधी एवं दर्शनमोह का उपशम तथा अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम एक साथ करता हुआ सीधे अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थान में पहुँचता है, तब इन कषायों के क्षयोपशम-निमित्तक विशुद्धपरिणामप्रकर्ष से वह प्रमत्तसंयत के तुल्य ही श्रावक से असंख्येयगुणनिर्जरा करता है, बल्कि प्रमाद के अभाव में निमित्तभूत विशुद्धपरिणाम के अतिशय से प्रमत्तसंयत से भी अधिक

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

निर्जरा करता है। अतः 'विरत' शब्द प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत दोनों गुणस्थानों में पूर्वगुणस्थानापेक्षया असंख्येयगुणनिर्जरा होने का सूचक है। किसी अनादिमिथ्यादृष्टि के सीधे अप्रमत्तगुणस्थान में पहुँचने का कथन धवलाटीका में इस प्रकार किया गया है—"**एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि करिय उवसमसम्मत्तं संजमं च अक्क-मेण पडिवण्णपढमसमए अणंतसंसारं छिंदिय अद्धपोग्गल-परियट्टमेत्तं कदेण अप्पमत्तद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता अणुपालिदा। तदो पमत्तो जादो।** ---" (धवला / ष.ख. / पु.५ / १,६,१५ / पृ.१९)।

२.२. गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञतावश स्वकल्पित असंगत व्याख्याएँ एवं निष्कर्ष

उपर्युक्त प्ररूपण से स्पष्ट हो जाता है कि 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों में ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बतलायी गयी है, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक और क्षपक, ये स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं हैं, अपितु गुणस्थानों के विशिष्टरूप हैं। किन्तु गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने स्वकल्पना से असंगत व्याख्याएँ की हैं, जिससे उन्हें गुणश्रेणिनिर्जरास्थानों में गुणस्थानों का अस्तित्व दिखाई देना असंभव हो गया। वे लिखते हैं—

"यद्यपि अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह तथा क्षपक आदि अवस्थाओं को उनके मूल भावों की दृष्टि से तो आध्यात्मिक विकास की इस अवधारणा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु उन्हें सीधा-साधा गुणस्थान के चौखटे में संयोजित करना कठिन है, क्योंकि गुणस्थानसिद्धान्त में तो चौथे गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है। पुनः उपशमश्रेणी से विकास करनेवाला तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धीकषाय का उपशम ही करता है, क्षय नहीं। अतः अनन्तवियोजक का अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय मानने से उपशमश्रेणी की दृष्टि से बाधा आती है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं विरत के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है।" (गुण. सिद्धा. एक विश्ले. / पृ.९-१०)।

ये सभी धारणाएँ गुणस्थानसिद्धान्त, कर्मसिद्धान्त और तत्त्वार्थसूत्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। पहली बात तो यह है कि उपशमकश्रेणी पर द्वितीयोपशम-सम्यग्दृष्टि ही नहीं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी आरूढ़ होता है और द्वितीयोपशम-सम्यग्दर्शन तथा क्षायिकसम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धिकषायों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं होता, विसंयोजना होती है, अर्थात् विशिष्ट सम्यक्त्वपरिणाम से उन्हें अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषायों और नौ नोकषायों के रूप में परिणमित किया जाता है। केवल दर्शनमोह का उपशम और क्षय होता है। विसंयोजित (अप्रत्याख्यानावरणादि के रूप में परिणमित) अनन्तानुबन्धी का क्षय क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ मुनि ही करता है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दूसरी बात यह है कि अनन्तानुबन्धी का वियोजन केवल चौथे गुणस्थान में नहीं, बल्कि चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें में से किसी में भी हो सकता है। और सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के वियोजन से ही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसकी पुष्टि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती-कृत **लब्धिसार** के निम्नलिखित वचनों से होती है—

उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोयित्ता।
अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तोऽपमत्तो य॥ २०५॥

तत्तो तियरणविहिणा दंसणमोहं समं खु उवसमदि।
सम्मत्तुप्पत्तिं वा अण्णं च गुणसेढिकरणविही॥ २०६॥

अनुवाद—"उपशमचारित्र के सम्मुख हुआ वेदकसम्यग्दृष्टि जीव सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधान से अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करके अन्तर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्त-अप्रमत्त अर्थात् स्वस्थान-अप्रमत्त होता है।" (२०५)।

"अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तीन करण-विधि के द्वारा तीनों दर्शनमोहनीय-कर्मप्रकृतियों को एक साथ उपशमाता है। गुणश्रेणी, करण व अन्य अर्थात् स्थितिकाण्डक, अनुभागकाण्डक आदि विधि प्रथमोपशम-सम्यक्त्वोत्पत्ति के सदृश करता है।" (२०६)।

इस प्रमाण से सिद्ध है कि उपशमचारित्र को प्राप्त करने के लिए अर्थात् उपशमक-श्रेणि पर आरूढ़ होने के लिए क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि जीव अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के वियोजनपूर्वक दर्शनमोह का उपशम करता है। और अनन्तानुबन्धी के वियोजन या विसंयोजना का अर्थ क्षय है ही नहीं, यह पूर्व में जयधवला टीका से प्रमाणित किया जा चुका है, अतः 'विरत' के पश्चात् अनन्तवियोजक अवस्था के उल्लेख से उपशमश्रेणी की दृष्टि से कोई बाधा नहीं आती। यह बाधा 'अनन्तवियोजक' के वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता के कारण गुणस्थानविकासवादी विद्वान् के मस्तिष्क में आयी है। इसीलिए उन्हें यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं विरत के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा है? यदि वे 'अनन्तवियोजक' के उपर्युक्त अर्थ से, जो तत्त्वार्थसूत्रकार को अभीष्ट था, तथा द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति में अनन्तवियोजन की अनिवार्यता के तथ्य से परिचित होते, तो उन्हें यह समझने में देर न लगती कि आचार्य ने अनन्तवियोजक का क्रम वहाँ किस दृष्टि से रखा है। उन्हें उसके क्रम का औचित्य तुरन्त बुद्धिगम्य हो जाता और उसे गुणस्थान के चौखटे में संयोजित करना कठिन नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्रकार की सूत्ररचना में गुणस्थानविकासवादी विद्वान् को विसंगति दिखायी देना, इस बात का सबूत है कि मान्य विद्वान् की धारणाएँ एवं चिन्तनपद्धति तत्त्वार्थसूत्रकार के विरुद्ध हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उक्त विद्वान् को गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच में क्षपक का क्रम रखा जाना भी अयुक्तिसंगत प्रतीत हुआ है। वे लिखते हैं—"क्षपक को सूक्ष्मसाम्पराय से भी योजित (समीकृत) किया जा सकता है, किन्तु उमास्वाति ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है, उसका युक्तिसंगत समीकरण कर पाना कठिन है, --- गुणस्थानसिद्धान्त में ऐसी बीच की कोई अवस्था नहीं है। सम्भवतः उमास्वाति दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का प्रथम उपशम और फिर क्षय मानते होंगे।" (गुण. सिद्धा. एक विश्ले. / पृ.१०)।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच क्षपक की स्थिति क्यों रखी है, यह तो सूत्र से ही स्पष्ट है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने सूत्र में क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जरा करनेवालों का वर्णन किया है। उपशान्तमोह मुनि की अपेक्षा क्षपक (क्षपक श्रेणी के तीन गुणस्थानों के मुनि) असंख्येयगुणनिर्जरा करते हैं और क्षपक से असंख्येयगुणनिर्जरा क्षीणमोह मुनि करता है, अतः उपर्युक्त क्रम युक्तिसंगत है।

यह सत्य है कि चतुर्दश गुणस्थान-समूह में उपशमकश्रेणी के उपशान्तमोह गुणस्थान के बाद क्षपकश्रेणी के अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों का क्रम नहीं है। सातवें गुणस्थान के आगे गुणस्थानों की उपशमक और क्षपक, ये दो अलग-अलग श्रेणियाँ आरम्भ हो जाती हैं, जो अलग-अलग समानान्तर क्रम से आगे बढ़ती हैं। इनमें उपशमकश्रेणी ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान पर समाप्त हो जाती है, किन्तु क्षपकश्रेणी अबाधगति से बढ़ती हुई चौदहवें गुणस्थान पर खत्म होती है। उपशमकश्रेणी में चारित्रमोह की विशिष्ट प्रकृतियों का केवल अन्तर्मुहूर्त के लिए उदय रुकता है, वे सत्ता से नहीं हटतीं। किन्तु क्षपकश्रेणी में वे सत्ता से क्रमशः अलग होती जाती हैं, फलस्वरूप क्षपकश्रेणी के तीन गुणस्थानों में उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम होते हैं, जिनसे उनमें उपशान्तमोह गुणस्थान की अपेक्षा असंख्येयगुणनिर्जरा होती है। यही प्रदर्शित करने के लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमकश्रेणी के उपशान्तमोह गुणस्थान के पश्चात् क्षपकश्रेणी के आद्य तीन गुणस्थानों का क्रम रखा है। गुणस्थानविकासवादी विद्वान् इस गुणस्थानसिद्धान्त से अनभिज्ञ थे, इसीलिए उनकी समझ में यह नहीं आया कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपशान्तमोह के अनन्तर क्षपक का स्थान क्यों रखा है? और तत्त्वार्थसूत्रकार को दोषी ठहराते हुए वे कह पड़े—"उमास्वाति ने उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है, उसका युक्तिसंगत समीकरण कर पाना कठिन है।" यदि उक्त विद्वान् उपर्युक्त गुणस्थानसिद्धान्त से अभिज्ञ होते, तो उन्हें यह कठिनाई महसूस नहीं होती।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों का क्रम क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जरा करनेवालों की अपेक्षा रखा गया है। सर्वत्र नियतक्रम से ही गुणस्थानों का उल्लेख किया जाय, प्रयोजनवश अनियतक्रम से उल्लेख की आवश्यकता हो, तो भी ऐसा न किया जाय, ऐसा तो जिनेन्द्र का उपदेश नहीं है। तथा जब नियतक्रम से गुणस्थानों का उल्लेख हो, तभी वे गुणस्थान कहलायेंगे, अनियतक्रम से उल्लेख करने पर गुणस्थान नहीं कहलायेंगे, ऐसा भी आगमवचन नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र चौदह गुणस्थानों का उल्लेख होने पर ही वे गुणस्थान कहला सकते हैं, प्रयोजनानुसार एक या दो का उल्लेख करने से वे गुणस्थान की परिभाषा से च्युत हो जायेंगे और 'आध्यात्मिक विकास की अवस्था' कहलाने लगेंगे, ऐसा भी आगम में नहीं कहा गया है। ये सारे नियम गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने स्वयं कल्पित किये हैं, ताकि 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के उल्लेख का अभाव सिद्ध किया जा सके। किन्तु गुणस्थानों का अनियतक्रम से युक्तिसंगत उल्लेख करनेवाला 'तत्त्वार्थ' का गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र इन कल्पित नियमों को निरस्त कर देता है और सिद्ध करता है कि उसमें गुणस्थानों का स्पष्टतः उल्लेख है तथा वह सम्पूर्ण गुणस्थानसिद्धान्त का द्योतन करता है।

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् का कथन है कि गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में "मिथ्यादृष्टि, सास्वादन (सासादन), सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अयोगिकेवली की कोई चर्चा नहीं है। उपशम और क्षपकश्रेणी की अलग-अलग कोई चर्चा भी यहाँ नहीं है।" (गुण. सिद्धा. एक विश्ले./ पृ.१०)।

यह तो गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र के प्रतिपाद्य विषय से ही स्पष्ट है कि उसमें मिथ्यादृष्टि, सासादन और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों का उल्लेख नहीं हो सकता था, क्योंकि इन गुणस्थानों में गुणश्रेणिनिर्जरा तो क्या, सामान्य अविपाक निर्जरा भी नहीं होती। अयोगिकेवली की चर्चा पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली दोनों गुणस्थानों में क्षीणमोह की अपेक्षा समान असंख्येयगुणनिर्जरा होती है, अतः 'जिन' शब्द से दोनों का उल्लेख किया गया है। तथा सूत्र में उपशमक और उपशान्तमोह इन दो शब्दों से उपशमकश्रेणि का और क्षपक तथा क्षीणमोह इन दो शब्दों से क्षपकश्रेणि का स्पष्टतः संकेत किया गया है। गुणश्रेणिनिर्जरा के प्रसंग में 'उपशमक' शब्द से उपशमक श्रेणी के आद्य तीन गुणस्थानों का तथा 'क्षपक' शब्द से क्षपकश्रेणी के शुरू के तीन गुणस्थानों का सामान्यग्राही नैगमनय से षट्खण्डागम में भी निर्देश किया गया है, इस तथ्य को सूचित करनेवाले धवलाकार वीरसेनस्वामी के वचन पूर्व में उद्धृत किये गये हैं। (देखिए, शीर्षक २.१.३)। इस प्रकार गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के उल्लेख का अभाव सिद्ध करने के लिए जितने भी स्वकल्पित हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सब निरस्त हो जाते हैं और सिद्ध होता है

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कि उक्त सूत्र में गुणस्थानों का ही उल्लेख है और किस गुणस्थानवाला जीव किस विशेषता से युक्त होने पर अपने पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती गुणस्थानवाले जीव से असंख्येयगुणनिर्जरा करता है, इस गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

२.३. गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थानक्रम में आध्यात्मिक-विकासक्रम घटित नहीं होता

गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों का क्रम कहीं-कहीं गुणस्थानों के क्रम के अनुसार नहीं है, इसलिए गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने उन्हें गुणस्थान नहीं माना, अपितु आध्यात्मिक विकास की अवस्था माना है। अर्थात् वे मानते हैं कि सूत्र में जिस अवस्था का जिस क्रम से उल्लेख है, वही अवस्था उसी क्रम से आत्मा में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में पूर्वावस्था से उत्तर अवस्था का विकास होता है। अपने इस मत को प्रकट करते हुए उक्त विद्वान् लिखते हैं—

"तत्त्वार्थसूत्र में **आध्यात्मिक विकास का जो क्रम** है, उसकी गुणस्थानसिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ गुणस्थानसिद्धान्त में आठवें गुणस्थान से उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी से आरोहण की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि उपशमश्रेणीवाला क्रमशः आठवें, नवें एवं दसवें गुणस्थान से होकर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है, जब कि क्षपकश्रेणीवाला क्रमशः आठवें, नवें एवं दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है। जबकि उमास्वाति यह मानते प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शनमोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्रमोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो, पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। दर्शनमोह के समान चारित्रमोह का भी क्रमशः उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय होता है। उन्होंने उपशम और क्षय को मानते हुए उनकी अलग-अलग श्रेणी का विचार नहीं किया है। उमास्वाति की कर्मविशुद्धि की दस अवस्थाओं में प्रथम पाँच का सम्बन्ध दर्शनमोह के उपशम और क्षपण से है तथा अन्तिम पाँच का सम्बन्ध चारित्रमोह के उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय से है। प्रथम भूमिका में सम्यग्दृष्टि का क्रमशः श्रावक और विरत इन दो भूमिकाओं के रूप में चारित्र का विकास तो होता है, किन्तु उसका सम्यग्दर्शन औपशमिक होता है, अतः वह उपशान्तदर्शनमोह होता है। ऐसा साधक चौथी अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षपण (वियोजन) करता है, अतः वह क्षपक होता है। इस पाँचवीं स्थिति के अन्त में दर्शनमोह का क्षय हो जाता है, अतः वह क्षीणदर्शनमोह होता है। छठी अवस्था में चारित्रमोह का उपशम होता है, अतः वह उपशमक-(चरित्रमोह) कहा जाता है। सातवीं अवस्था में चारित्रमोह उपशान्त होता है। आठवीं में उस उपशान्त-चरित्रमोह का क्षपण किया जाता है, अतः वह क्षपक होता है। नवीं अवस्था में चारित्रमोह क्षीण हो जाता है, अतः उसे क्षीणमोह कहा जाता है और दसवीं अवस्था में 'जिन' अवस्था प्राप्त होती है।" (गुण. सिद्धा. एक विश्ले./ पृ.१०-११)।

अ०१०/प्र०५

आध्यामिक विकास के कल्पित क्रम का निरसन

१. आध्यात्मिकविकास का यह कल्पित क्रम तत्त्वार्थसूत्रकार के मत के विरुद्ध है। यदि गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को उपर्युक्त प्रकार से ही आध्यात्मिक विकास के क्रम का प्रदर्शन माना जाय, तो उसमें क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक-चारित्र एवं क्षायोपशमिक-संयमासंयम (श्रावकावस्था) का किसी भी क्रम पर उल्लेख न होने से इन्हें आध्यात्मिक विकास की अवस्था नहीं माना जा सकता, जब कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्षायोपशमिकभाव-प्रदर्शक सूत्र में इन्हें क्षायोपशमिक (कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाले) भाव तथा सम्यक्त्व, चारित्र एवं संयमासंयम कहकर आत्मविकास की ही अवस्था बतलाया है। सूत्र इस प्रकार है–

"**ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।**" (त.सू.—दि.२/५, श्वे.२/५)।

अनुवाद—"मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत और कु—अवधि (विभंग) ये तीन अज्ञान; चक्षु, अचुक्ष और अवधि ये तीन दर्शन; दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ तथा सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये अठारह क्षायोपशमिकभाव जीव के भाव हैं।"

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (२/५) में भी सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम को क्षायोपशमिक भाव कहा है— "--- **सम्यक्त्वं चारित्रं संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति।**"

यतः इन क्षायोपशमिक आध्यात्मिक अवस्थाओं का विकास उक्त सूत्र में प्रदर्शित नहीं किया गया है, अतः सिद्ध है कि वह आध्यात्मिक अवस्थाओं के विकासक्रम का प्रदर्शक सूत्र नहीं है।

२. औपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट स्थितिकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह उसमें अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है। उसके बाद यदि वह मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि या सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होता अथवा उपशमसम्यक्त्व के काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलि शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी के उदय से सासादनसम्यग्दृष्टि नहीं होता, तो सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशमयोग्य विशुद्ध परिणाम होने पर उक्त कषाय का क्षयोपशम कर श्रावक अवस्था प्राप्त करता है। तत्पश्चात् योग्य विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष से प्रत्याख्यानावरणकषाय का क्षयोपशम कर 'विरत'

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अवस्था का स्वामी बनता है। इस प्रकार प्रायः क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही श्रावक और विरत अवस्थाओं को प्राप्त करता है। कदाचित् कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम-सम्यक्त्व और संयमासंयम अथवा संयम को एक साथ प्राप्त कर संयतासंयत (श्रावक) अथवा अप्रमत्तसंयत अवस्था में पहुँचता है, वह अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथमोपशम-सम्यक्त्व में स्थित रहता है, उसके पश्चात् क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अतः गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने जो श्रावक और विरत में नियम से औपशमिक सम्यग्दर्शन माना है, वह तत्त्वार्थसूत्रकार के मत के विरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने सम्यग्दर्शन का क्षायोपशमिक भेद भी बतलाया है, और वह असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक चार अवस्थाओं में ही रह सकता है, क्योंकि उसके आगे केवल द्वितीयोपशम-सम्यग्दर्शन या क्षायिकसम्यग्दर्शनवाला ही विकास कर सकता है। इसलिए यदि गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् के अनुसार गुणश्रेणिनिर्जरा की श्रावक और विरत अवस्थाओं में औपशमिक सम्यग्दर्शन के अस्तित्व को आध्यात्मिक विकास माना जाय, तो ऐसा आध्यात्मिक विकास गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र प्रदर्शित नहीं करता। इससे सिद्ध है कि गुणश्रेणिनिर्जरास्थान क्रमशः विकसित आध्यात्मिक अवस्थाएँ नहीं हैं।

३. केवल विरत-अवस्था से अनन्तवियोजक अवस्था विकसित नहीं होती, अपितु असंयतसम्यग्दृष्टि और श्रावक-अवस्था से भी विकसित होती है। अतः वह विकास की चौथी अवस्था नहीं है, अपितु असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा दूसरी अवस्था है। इसलिए गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने जो अनन्तवियोजक अवस्था को विकास की चौथी अवस्था माना है, वह गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र से प्रमाणित नहीं होती। इससे भी सिद्ध है कि उसमें प्रदर्शित अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की क्रमिक अवस्थाएँ नहीं हैं।

४. चूँकि अनन्तवियोजक अवस्था विकास की चौथी अवस्था नहीं है, इसलिए उसके बाद उल्लिखित दर्शनमोहक्षपक-अवस्था विकास की पाँचवीं अवस्था नहीं है। वह चौथी अवस्था भी नहीं है, क्योंकि दर्शनमोह का क्षय भी असंयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा विरत, इनमें से किसी में भी हो सकता है।

५. दर्शनमोह के क्षय के बाद चारित्रमोह-उपशमक अवस्था उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि दर्शनमोह का क्षय असंयतसम्यग्दृष्टि-अवस्था में भी होता है और उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण-कषाय के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक श्रावक अवस्था प्रकट होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने श्रावक (संयमासंयम) अवस्था को क्षायोपशमिकभाव बतलाया है, इसका प्रमाण पूर्व में दिया जा चुका है। अतः गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् ने जो दर्शनमोहक्षपक-अवस्था से चारित्रमोह-उपशमक-अवस्था का विकास माना है, वह तत्त्वार्थसूत्रकार के मत के विरुद्ध है। यह भी इस बात का सबूत है कि गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में आध्यात्मिक अवस्थाओं के विकासक्रम का प्ररूपण नहीं है।

६. तत्त्वार्थसूत्रकार ने औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र को भी जीव का स्वतत्त्व बतलाया है—'**सम्यक्त्वचारित्रे**' (त.सू./२/३)। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और उपशान्तमोह शब्दों के द्वारा औपशमिकचारित्र का कथन तो किया गया है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व का कथन नहीं है। अतः गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को आध्यात्मिक अवस्थाओं के विकासक्रम का सूचक नहीं माना जा सकता।

७. गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उल्लिखित अवस्थाओं के क्रमानुसार ही पूर्वावस्था से उत्तर अवस्था का विकास माना है। अतः 'उपशान्तमोह' के बाद 'क्षपक' का उल्लेख होने से उन्होंने यह धारणा बनायी है कि तत्त्वार्थसूत्रकार दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का पहले उपशम मानते हैं, फिर क्षय। किन्तु जैसे चारित्रमोह के प्रसंग में 'क्षपक' के पूर्व 'उपशान्तमोह' का उल्लेख है, वैसे ही 'दर्शनमोहक्षपक' के पूर्व 'उपशान्तदर्शनमोह' का उल्लेख नहीं है। इससे इस धारणा की पुष्टि नहीं होती कि तत्त्वार्थसूत्रकार दर्शनमोह का पहले उपशम मानते हैं, फिर क्षय। तथा सूत्र में चारित्रमोह की अनन्तानुबन्धी-प्रकृतियों के उपशमपूर्वक क्षय का उल्लेख नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को चारित्रमोह का उपशमपूर्वक क्षय इष्ट नहीं है।

८. एक प्रश्न विचारणीय है। उपशान्तमोह अवस्था में भी मोहनीय कर्म का उदय नहीं रहता और क्षीणमोह अवस्था में भी। उपशान्तमोह-अवस्था में भी सातावेदनीय के अतिरिक्त समस्त कर्मों का आस्रव-बन्ध रुक जाता है और क्षीणमोह-अवस्था में भी। तब क्षीण-मोह-अवस्था के बाद ही 'जिन' अवस्था क्यों प्राप्त होती है, उपशान्तमोह अवस्था के बाद क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि उपशान्त-अवस्था या उपशम-अवस्था का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है। अन्तर्मुहूर्त के बाद कषाय का उदय होने पर वह समाप्त हो जाती है और मुनि क्षायोपशमिक विरत-अवस्था में पहुँच जाता है। कदाचित् उससे नीचे भी जा सकता है। अतः जब क्षायिकसम्यग्दर्शन-सहित क्षायोपशमिक-चारित्रवाला 'विरत', चारित्रमोह का क्रमशः क्षय करते हुए क्षीणमोह हो जाता है, तब दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय का अवसर न रहने से आगे बढ़ता है और 'जिन' अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा उपशान्तमोह-अवस्था के बाद 'जिन' अवस्था की प्राप्ति न बतलाये जाने से सिद्ध है कि वे 'विरत' (अप्रमत्त-विरत) अवस्था से उपशमक और क्षपक इन दो श्रेणियों का आरंभ होना तथा उपशमकश्रेणी पर आरूढ़ होकर उससे जीव का नियमतः पतित होना अथवा भवक्षय से मृत्यु को प्राप्त होना मानते हैं। उन्होंने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में चारित्रमोह के उपशम से संबंधित उपशमक और उपशान्तमोह तथा क्षय से सम्बन्धित क्षपक और क्षीणमोह इन दो-दो अवस्थाओं का उल्लेख करके भी उक्त दो श्रेणियों के अस्तित्व

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की सूचना दी है। 'उपशमक' और 'क्षपक' शब्द उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आद्य तीन गुणस्थानों के सूचक हैं।

यदि तत्त्वार्थसूत्रकार को उपर्युक्त दो-दो अवस्थाओं से उपशमक और क्षपक श्रेणियाँ अभिप्रेत न होतीं, तो जैसे एकमात्र 'दर्शनमोहक्षपक' शब्द से दर्शनमोह का क्षय सूचित कर दिया गया है, वैसे ही एकमात्र 'चारित्रमोहोपशमक' शब्द से चारित्रमोह का उपशम और केवल 'चारित्रमोहक्षपक' शब्द से चारित्रमोह का क्षय सूचित कर दिया जाता, उपशान्तमोह और क्षीणमोह अवस्थाओं के उल्लेख की आवश्यकता न होती।

तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार को उपशमक और क्षपक श्रेणियाँ मान्य थीं और यह भी मान्य था कि जीव क्षायोपशमिकचारित्रवाले अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान से उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है। उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होनेवाला उपशमकाल के समाप्त होने पर उससे पतित होकर क्षायोपशमिक-चारित्रवाले गुणस्थान में अथवा उससे होते हुए और भी नीचे के गुणस्थान में पहुँच जाता है। किन्तु जो जीव उसी क्षायोपशमिक-चारित्रवाले अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान से क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है, वह चारित्रमोह का क्षपण करते हुए क्षीणमोहगुणस्थान प्राप्त कर लेता है, पश्चात् **'मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'** (त.सू./१०/१) इस नियम के अनुसार 'जिन' हो जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार चारित्रमोह का क्षय क्षयोपशमपूर्वक मानते हैं, न कि उपशमपूर्वक, अतः गुणस्थानविकासवादी विद्वान् की यह धारणा अतर्कसंगतरूप से कपोलकल्पित है कि तत्त्वार्थसूत्रकार दर्शनमोह और चारित्रमोह का पहले उपशम और बाद में क्षय मानते हैं।

इन प्रमाणों और युक्तियों से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है गुणनिर्जरासूत्र में आध्यात्मिक अवस्थाओं का विकासक्रम सूचित नहीं किया गया है, अपितु विभिन्न गुणस्थानों अथवा उनकी विशिष्ट अवस्थाओं में कालविशेष में होनेवाले विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष से उसी गुणस्थान की पूर्वावस्था की अपेक्षा अथवा अन्य गुणस्थान की अपेक्षा जो असंख्येयगुणनिर्जरा होती है, उसका ज्ञापन किया गया है। इस प्रकार गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में गुणस्थानों के ही नामों, उनकी विशिष्ट अवस्थाओं तथा गुणस्थानसिद्धान्त के ही अनुसार उत्तरोत्तर असंख्येयगुणनिर्जरा का वर्णन है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकार गुणस्थानसिद्धान्त से सुपरिचित थे।

२.४. 'सम्यग्दृष्टि' आदि में गुणस्थान का लक्षण विद्यमान

उपर्युक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में वर्णित सम्यग्दृष्टि आदि अवस्थाओं के साथ तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं किया, इसलिए डॉक्टर सागरमल जी ने

उन्हें गुणस्थान कहने की बजाय 'आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्थाएँ' कहकर उनके गुणस्थान होने के सत्य का अपलाप करने की चेष्टा की है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने उनके साथ 'आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्था' नाम का भी प्रयोग नहीं किया, अतः उन्हें इस नाम से भी व्यवहृत करना अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त यह (आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्था) पारिभाषिक (विशेषार्थसूचक) शब्द भी नहीं है, अपितु परिभाषा (विशेषार्थ) ही है। इस परिभाषा का सूचक शास्त्रप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'गुणस्थान' है। अतः 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं को 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित करना ही शास्त्रसम्मत शब्दव्यवहार है।

इन अवस्थाओं के गुणस्थान होने का पहला प्रमाण तो यह है कि आगम में इन्हें सर्वत्र जीवसमास एवं गुणस्थान शब्दों से ही अभिहित किया गया है, किसी अन्य शब्द से नहीं। दूसरा प्रमाण यह है कि इनमें गुणस्थान का ही लक्षण व्याप्त है, किसी अन्य पदार्थ का नहीं। 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तरतमता अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कर्षयुक्त होने का गुण है, वही उनके गुणस्थान होने का लक्षण है। वीरसेन स्वामी ने मोक्ष के सोपानों को गुणस्थान कहा है—"**मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि।**" (धवला / ष.ख. / पु.१ / १, १, २२ / पृ.२०१)। अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाओं का नाम गुणस्थान है। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरि ने भी ज्ञानदर्शनचारित्ररूप परम्परा को 'गुणस्थान' शब्द से अभिहित किया है। यथा—

"**परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया** मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरत-सम्यग्दृष्टि-विरताविरत-प्रमत्ताप्रमत्त-निवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्त-क्षीणमोह-सयोग्ययोगि-**गुणस्थानभेदभिन्नया गताः** ---।" (ललितविस्तरा / 'सिद्धाणं—' गाथा १/ पृ.३९४)।

इन प्रमाणों से 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं के गुणस्थान होने की पुष्टि होती है। ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त अवस्थाएँ दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से तथा ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षय से प्रकट होती हैं तथा सम्यग्दर्शनादिरूप विशुद्धिविशेष के कारण क्रमशः अधिकाधिक संवर, निर्जरा आदि मोक्ष साधक कार्यों का हेतु हैं। इसीलिए इन्हें मोक्षसोपान एवं मोक्षमार्ग की परम्परा कहा गया है। अत एव गुणस्थानों में ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। फलस्वरूप गुणश्रेणि-निर्जरासूत्र में गुणस्थानों को ही गुणश्रेणिनिर्जरा-स्थान कहा गया है, किसी अन्य को नहीं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत आदि अवस्थाएँ दो-दो लक्षणवाली नहीं हैं, जिनमें से एक को 'गुणश्रेणिनिर्जरा का स्थान' या 'आध्यात्मिक विकास की अवस्था' कहा जाय और दूसरी को 'गुणस्थान' उन सब का एक-एक ही लक्षण है। जैसे, 'सम्यग्दृष्टि' अवस्था सर्वत्र सम्यग्दर्शनज्ञान-लक्षणात्मक

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ही है और श्रावक (देशविरत) अवस्था सर्वत्र सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित-देशसंयमात्मक ही है, इत्यादि। अतः सिद्ध है कि आध्यात्मिक विकास की अवस्थाएँ और गुणस्थान अभिन्न हैं। सम्पूर्ण दिगम्बर एवं श्वेताम्बर साहित्य में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाएँ गुणस्थान (मोक्षसोपान) नहीं हैं। अतः डॉ० सागरमल जी का उन्हें गुणस्थानों से भिन्न मानना अप्रामाणिक है।

आश्चर्य है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं के साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग न होने से डॉक्टर सा० ने उन्हें गुणस्थान मानने से इनकार कर दिया, जब कि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि सम्पूर्ण दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में उन्हें गुणस्थान ही कहा गया है और वे गुणस्थानों के ही पारिभाषिक शब्द हैं। उन्होंने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र के प्रसंग में स्वयं लिखा है कि "इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह-) उपशमक, (चारित्रमोह-) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं।" (देखिये, पादटिप्पणी १५१)। वे यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि 'सम्यग्दृष्टि,' 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं में गुणस्थानों का ही लक्षण व्याप्त है। यह सब जानते हुए भी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित इन अवस्थाओं को वे गुणस्थान मानने के लिए तैयार नहीं हुए। वे इस मान्यता पर अटल हैं कि गुणश्रेणीनिर्जरा की आधारभूत इन दस अवस्थाओं से ही आगे चलकर गुणस्थानसिद्धान्त विकसित हुआ है। किन्तु गुणश्रेणीनिर्जरासूत्र से अलग भी जीव की अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत आदि चौदह अवस्थाओं का तत्त्वार्थसूत्र में उल्लेख हुआ है और वहाँ उनके उल्लेख का प्रयोजन गुणश्रेणी-निर्जरा का प्ररूपण नहीं है, अपितु उनमें चतुर्विध ध्यानों, बाईस परीषहों आदि के यथायोग्य स्वामित्व का प्ररूपण है। (देखिए, आगे शीर्षक २.९)। इस प्रकार गुणश्रेणिनिर्जरा की आधारभूत दस अवस्थाओं से अलग 'अविरत', 'देशविरत' आदि चौदह अवस्थाओं का तत्त्वार्थसूत्र में उल्लेख होने से सिद्ध है कि उसमें चौदह गुणस्थानों की मान्यता पहले से ही उपलब्ध है। अतः यह मानना कि गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुआ है, प्रमाणविरुद्ध है। तथापि गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने इस तथ्य की ओर से आँखें फेरते हुए घोषणा कर दी कि "उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्टरूप से सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं।" (जै.ध.या.स./ पृ.२४९-२५०)।

'तत्त्वार्थसूत्र' में उल्लिखित जो 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाएँ लक्षणतः गुणस्थान हैं, उन्हें केवल इसलिए गुणस्थान न मानना कि उनके साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

नहीं हुआ है, वैसी ही कथा है जैसे कोई हाथी को साक्षात् खड़ा हुआ देखकर भी उसे इसलिए हाथी न माने कि उसके ऊपर 'हाथी' शब्द नहीं लिखा है।

गुणस्थानविकासवादी विद्वान् ने इस कथा का अनुसरण इसलिए किया है, कि वे इस तरह यह सिद्ध कर सकें कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था, इसलिए **षट्खण्डागम, कसायपाहुड, समयसार, भगवती-आराधना, मूलाचार** आदि जिन दिगम्बरग्रन्थों में सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरत), विरत (संयत) आदि अवस्थाओं के लिए 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग मिलता है, वे तत्त्वार्थसूत्र (उक्त विद्वान् के अनुसार ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी) के बाद रचे गये हैं।

किन्तु गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् का तत्त्वार्थसूत्रोल्लिखित 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं को गुणस्थान न मानना प्रमाणविरुद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य में (यद्यपि श्वेताम्बरसाहित्य में गुणस्थानसिद्धान्त षट्खण्डागम से अनुकृत है) 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाओं को गुणस्थान ही कहा गया है और उनमें गुणस्थान का ही लक्षण व्याप्त है, अतः उनका गुणस्थान होना निर्विवाद है।

२.५. सम्यग्दृष्टित्व आदि संवरादि के भी हेतु

उक्त अवस्थाओं के गुणस्थान होने की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि वे केवल उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा का आधार नहीं हैं, अपितु कर्मप्रकृतियों के उत्तरोत्तर अधिक संवर का भी हेतु हैं, जैसा कि पूज्यपाद स्वामी के निम्नलिखित वचनों से प्रकट होता है—"**इदं विचार्यते कस्मिन् गुणस्थाने कस्य संवर इति?**" (स./सि./९/१)। उन अवस्थाओं में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उत्तरोत्तर अल्प होता जाता है और परीषहों के हेतु भी न्यून होते जाते हैं। उनमें क्रमशः उच्चतर चारित्र धारण करने का क्षमता आती जाती है और उच्चतर ध्यान की योग्यता का भी आविर्भाव होता जाता है। इस तरह वे मात्र गुणश्रेणिनिर्जरा की हेतुभूत आध्यात्मिक विशुद्धता की दस अवस्थाएँ नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण बन्ध और मोक्ष की प्रणाली के सोपानभूत गुण-स्थान हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं के ये गुण 'तत्त्वार्थ' के विभिन्न सूत्रों में प्ररूपित किये हैं, जो आगे द्रष्टव्य हैं। अतः सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार के सामने गुणस्थानसिद्धान्त की अवधारणा पूर्णरूप में विद्यमान थी।

२.६. उपशमक-क्षपक श्रेणियों का उल्लेख

तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक ग्यारह गुणस्थानों का संक्षेप में उल्लेख किया है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उसमें 'उपशमक' और 'क्षपक' इन दो सामान्यग्राही संज्ञाओं से उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के १. अपूर्वकरण, २. अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और ३. सूक्ष्मसाम्पराय ये तीन गुणस्थान संकेतित किये गये हैं। उक्त संज्ञाओं से ये ही तीन गुणस्थान ग्राह्य हैं, यह षट्खण्डागम के निम्नलिखित सूत्रों से प्रमाणित है—

१. "**अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।**"

= अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं।

२. "**अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।**"

= अनिवृत्तिबादर-साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी।

३. "**सुहुमसांपराइय-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।**"

= सूक्ष्मसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों हैं।

(षट्खण्डागम / पु.१/१,१,१६-१८)।

आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नलिखित वचनों से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

"**अपूर्वकरणोपशमक-क्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक-सूक्ष्मसाम्परायोपशमक-क्षपको** ---।" (आ.ख्या. / स.सा. / गा. ५०-५५)।

इससे भी सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणस्थानों में ही उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा बतलायी है तथा वे गुणस्थानसिद्धान्त से सम्यग्रूपेण अभिज्ञ थे।

यहाँ यदि कहा जाय कि उक्त दस अवस्थाओं में परिगणित 'उपशमक' और 'क्षपक' अवस्थाओं के आधार पर उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के तीन गुणस्थानों की कल्पना कर ली गयी है, तो यह कथन प्रत्यक्षप्रमाण के विरुद्ध होगा, क्योंकि उनमें से 'अनिवृत्तिबादर-साम्पराय' और 'सूक्ष्मसाम्पराय' गुणस्थानों का तत्त्वार्थसूत्र (९ / १२,९ / १०) में शब्दशः उल्लेख है। परीषहों के प्रकरण में अपूर्वकरण गुणस्थान को 'बादरसाम्पराय' में ही शामिल कर लिया गया है, क्योंकि उसमें भी स्थूल कषाय का अस्तित्व होने से सभी परीषह संभव हैं। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार गुणस्थानों की उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी से भी सुपरिचित थे, अर्थात् उन्हें गुरु-परम्परा से गुणस्थानसिद्धान्त का परिपूर्ण उपदेश प्राप्त हुआ था। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में 'अनन्तवियोजक' और 'दर्शनमोहक्षपक' शब्दों का प्रयोग भी तत्त्वार्थ-सूत्रकार की गुणस्थानसिद्धान्त में गहरी पैठ का परिचायक है। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२.७. समवायांग का प्रमाण

श्वेताम्बर-आगम 'समवायांग' में गुणश्रेणिनिर्जरास्थानों को चौदह गुणस्थानों के ही अन्तर्गत बतलाया गया है। श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** ग्रन्थ में 'तत्त्वार्थ' के उक्त गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को **समवायांग** (१४/१५) के निम्नलिखित चौदह-गुणस्थान-निर्देशक सूत्र पर आधारित बतलाया है—

''कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा— (मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी) अविरयसम्मादिट्ठी विरयाविरए पमत्तसंजए अप्पमत्तसंजए निअट्टिबायरे अनियट्टिबायरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवए वा उवसंतमोहे खीणमोहे सजोगी केवली अयोगी केवली।''

डॉ० सागरमल जी ने कहा है कि समवायांग का यह सूत्र प्रक्षिप्त है। यह सही है, किन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने 'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र को समवायांग के इस चतुर्दश-गुणस्थान-निर्देशक सूत्र पर आधारित माना है, अतः उनके मतानुसार उक्त सूत्र में वर्णित 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाएँ गुणस्थान ही हैं।

२.८. जीवतत्त्वप्रदीपिका का प्रमाण

दिगम्बर-परम्परा के श्री केशववर्णी ने भी गुणश्रेणिनिर्जरा की आधारभूत 'सम्यग्दृष्टि' आदि अवस्थाओं को गुणस्थान ही कहा है। **गोम्मटसार-जीवकाण्ड** में ८ वीं गाथा से लेकर ६५वीं गाथा तक चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् निम्नलिखित दो गाथाओं में गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों का प्ररूपण किया गया है—

सम्मत्तुप्पत्तीए सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते॥ ६६॥

खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥ ६७॥

इन गाथाओं की व्याख्या करते हुए श्री केशववर्णी लिखते हैं—

''एवंविधचतुर्दशगुणस्थानेषु स्वायुर्वर्जितकर्मणां गुणश्रेणिनिर्जरा तत्कालविशेषं च गाथाद्वयेनाह—प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तौ करणत्रयपरिणामचरमसमये वर्तमानविशुद्धि-विशिष्टमिथ्यादृष्टेः आयुर्वर्जितज्ञानावरणादिकर्मणां यद्गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यं ततः असंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान-गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणम्। ततः देशसंयतस्य गुणश्रेणिनिर्जरा-द्रव्यमसंख्यातगुणम्। ततः सकलसंयतस्य गुणश्रेणिनिर्जरा-

द्रव्यमसंख्यातगुणम्।---इत्येकादशसु स्थानेषु गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यस्य प्रतिस्थानमसंख्यातगुणितत्वमुक्तम्।'' (जी.त.प्र./गो.जी./गा.६६-६७)।

इस प्रकार श्री केशववर्णी ने चौदह गुणस्थानों में गुणश्रेणिनिर्जरा के ग्यारह स्थान बतलाये हैं। उन्होंने सातिशय मिथ्यादृष्टि के अतिरिक्त असंयतसम्यग्दृष्टि में भी गुणश्रेणिनिर्जरा बतलायी है। अतः उनके अनुसार गुणश्रेणिनिर्जरा के ११ स्थान हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुणस्थान ही गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थान हैं।

२.९. चतुर्दश गुणस्थानों में ध्यानादि के स्वामित्व का कथन

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ग्यारह गुणस्थानों में गुणश्रेणिनिर्जरा के प्ररूपण के अतिरिक्त चौदह गुणस्थानों में ध्यानभेदों के स्वामित्व का और प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिजिन पर्यन्त नौ गुणस्थानों में परीषहभेदों की पात्रता का भी कथन किया है। इसके अतिरिक्त प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक शरीर के उत्पादन की योग्यता का निर्देश किया है तथा दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थानों के आधारभूत चारित्रों पर भी प्रकाश डाला है, साथ ही संयमासंयम एवं सरागसंयम के नाम से संयतासंयत एवं प्रमत्तसंयत गुणस्थानों को देवायु के बन्ध का कारण बतलाया है। यथा—

'तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्' (त.सू.—दि.९/३४, श्वे. ९/३५) इस सूत्र में 'अविरत' शब्द से अविरति-साधर्म्यवाले आदि के चार गुणस्थानों का निर्देश करते हुए मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं प्रमत्तसंयत, इन छह गुणस्थानवर्ती जीवों को आर्त्तध्यान का स्वामी बतलाया गया है। पूज्यपादस्वामी ने **'अविरता असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः'** (स.सि./९/३४) इस व्याख्यान द्वारा स्पष्ट किया है कि 'अविरत' पद मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि पर्यन्त चार गुणस्थानों का सूचक है। माननीय पं० सुखलाल जी संघवी ने भी उपर्युक्त सूत्र का विवेचन करते हुए लिखा है—''प्रथम (अविरत) के चार (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि) तथा देशविरत व प्रमत्तसंयत इन छह गुणस्थानों में उक्त आर्त्तध्यान संभव है।'' (त.सू./वि.स./९/३१-३५/पृ.२२६)।

'हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः' (त.सू.—दि.९/३५, श्वे. ९/३६) यहाँ आदि के पाँच गुणस्थानों को रौद्रध्यान का पात्र कहा गया है।

'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य' (९/३७) तथा **'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च'** (९/३८), ये दोनों सूत्र केवल श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में हैं। इन दोनों सूत्रों से यह अर्थ प्रतिपादित होता है कि अप्रमत्तसंयत नामक सातवें से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें तक छह गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है। पं० सुखलाल जी संघवी ने भी लिखा है—

'**सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश**' (त.सू.—दि.९/१०, श्वे.९/१०)। यहाँ **सूक्ष्मसाम्पराय** नामक दसवें और **वीतरागछद्मस्थ** नामक ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थानों में चौदह परीषहों की सम्भावना बतलायी गयी है। ११वें और १२वें गुणस्थानों के नाम क्रमशः **उपशान्तमोह** और **क्षीणमोह** हैं, जिनका निर्देश तत्त्वार्थसूत्रकार ने गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र (९ / ४५) में किया है तथा श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र के '**उपशान्तक्षीणकषाययोश्च**' (९ / ३८) सूत्र में किया गया है।

'**एकादश जिने**' (९ /११) सूत्र में 'जिन' शब्द से सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक १३वें और १४ वें गुणस्थान सूचित किये गये हैं और उनमें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, इन ग्यारह परीषहों की संभावना व्यक्त की गई है, क्योंकि इनके कारणभूत वेदनीयकर्म की सत्ता उक्त दोनों गुणस्थानों में होती है। पं० सुखलाल जी संघवी लिखते हैं—"तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में केवल ग्यारह ही परीषह संभव हैं। --- शेष ग्यारह घातिकर्मजन्य होते हैं और इन गुणस्थानों में घातिकर्मों का अभाव होने से वे संभव नहीं हैं।" (त.सू./वि.स./९/११/पृ.२१६)। श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणी ने भी 'जिन' शब्द को अन्त्य (१४वें) और उपान्त्य (१३ वें) गुणस्थानों का सूचक बतलाया है—"**तत्रान्त्योपान्त्ययोर्गुणस्थानयोर्जिनत्वम्** ---।" (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / ९ / ११)।

'**बादरसाम्पराये सर्वे**' (त.सू.—दि. ९/१२, श्वे. ९/१२) इस सूत्र के द्वारा छठे से लेकर नौवें गुणस्थान तक सभी बाईस परीषह संभव बतलाये गये हैं। (देखिये, अगला शीर्षक २.११.२)।

'**सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम्**' (त.सू.—दि.९/१८, श्वे.९/१८) इस सूत्र में दसवें गुणस्थान के आधारभूत **सूक्ष्मसाम्परायचारित्र** का एवं ग्यारहवें-बारहवें, गुणस्थानों के आधारभूत **यथाख्यातचारित्र** का कथन किया गया है।

'**शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव**' (त.सू.—दि.२/४९) इस सूत्र के द्वारा प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव को **आहारक-शरीर** का स्वामी बतलाया गया है।

'**सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य**' (त.सू.—दि.६/२०, श्वे. ६/२०) यह सूत्र पाँचवें और छठे गुणस्थानों में देवायु के आस्रव का प्रतिपादक है।

'**त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्**' (त.सू.—दि. ९/४०, श्वे.९/४२) यहाँ **अयोग** शब्द के द्वारा अयोगिकेवलि-गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवर्ति-ध्यान की पात्रता बतलायी गयी है।

इन सूत्रों में १.अविरत, २. देशविरत, ३.प्रमत्तसंयत, ४.अप्रमत्तसंयत, ५.बादर-साम्पराय, ६.सूक्ष्मसाम्पराय, ७.उपशान्तकषाय, ८.क्षीणकषाय और ९.केवली, इन नौ गुणस्थानों का शब्दतः निर्देश किया गया है। इनमें 'अविरत' शब्द से मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान द्योतित किये गये हैं। '**त्र्येकयोग-काययोगायोगानाम्**' सूत्र में 'अयोगानाम्' पद अयोगकेवलि-गुणस्थान का प्रतिपादक है तथा '**एकादश जिने**' सूत्र में 'जिन' शब्द सयोगिजिन और अयोगिजिन दोनों का वाचक है। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में पठित 'उपशमक' और 'क्षपक' शब्द उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार शब्दतः या अर्थतः समस्त चौदह गुणस्थानों का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में किया गया है। अतः यह कथन सत्य का महान् अपलाप है कि तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का निर्देश नहीं है, फलस्वरूप उसमें गुणस्थान-अवधारणा का पूर्णतः अभाव है। इसलिए यह मान्यता भी महामिथ्या है कि गुणस्थानसिद्धान्त का विकास तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद हुआ है। निष्कर्षतः यह मन्तव्य भी सर्वथा असत्य है कि गुणश्रेणिनिर्जरा के दस स्थानों से गुणस्थानसिद्धान्त विकसित हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि ज्ञानावरणकर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं, दर्शनमोह और अन्तराय के उदय में अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं, चारित्रमोहोदय के कारण नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं और वेदनीयकर्म के उदय से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श एवं मल परीषह होते हैं। (त.सू./ ९ /१३-१६)। यतः दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में दर्शनमोह एवं चारित्रमोह का उदयाभाव होता है, अतः उनमें तज्जन्य आठ परीषह नहीं होते, किन्तु ज्ञानावरण, अन्तराय और वेदनीय का उदय होता है इसलिए तन्निमित्तक चौदह परीषह हो सकते हैं। 'जिन' में केवल वेदनीय का उदय होता है, शेष का नहीं, अतः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में ग्यारह परीषह ही संभव हैं। किन्तु छठे से नौवें तक परीषहोत्पादक सभी कर्मों का उदय होता है, अतः उनमें सभी परीषहों की संभावना बतलायी गयी है। इस स्पष्टीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को गुणस्थान-विषयक सर्वाङ्गीण ज्ञान था।

२.१०. चौदह का एक साथ निर्देश अनावश्यक था

गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् ने अपने पूर्वोद्धृत वक्तव्य में कहा है कि "उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का स्पष्टरूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि उनके समय तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी।" (देखिए, इसी प्रकरण की शीर्षक १)। सम्भवतः मान्य विद्वान् के कथन का यह

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तात्पर्य है कि उमास्वाति ने किसी स्वतन्त्रसूत्र में चौदह गुणस्थानों का उल्लेख करते हुए यह नहीं कहा कि ये गुणस्थान हैं। केवल इसलिए मान्य विद्वान् ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था।

किन्तु ऐसे अनेक सिद्धान्त हैं, जो आगम में बहुचर्चित हैं, फिर भी तत्त्वार्थसूत्र में उनका स्वतन्त्ररूप से उल्लेख नहीं हुआ। जैसे षड्लेश्यासिद्धान्त का प्रतिपादन प्राचीन ग्रन्थ 'स्थानांग' (१/५१) और 'प्रज्ञापना' (१७/१ लेश्याधिकार) में हुआ है, तथापि तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा कोई स्वतन्त्रसूत्र नहीं है, जिसमें छहों लेश्याओं के नाम वर्णित कर यह कहा गया हो कि ये लेश्याएँ हैं। केवल '**आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः** (त.सू.—दि.४/२), '**तृतीयः पीतलेश्यः**' (त. सू.—श्वे. ४/२), '**पीतान्तलेश्याः**' (त. सू. श्वे.—४/७) और '**पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु**' (त. सू.—दि. ४/२२, श्वे. ४/२३), इन सूत्रों के द्वारा देवों के प्रसंग में मात्र तीन लेश्याओं का नामतः उल्लेख हुआ है। और 'पीतान्त' शब्द से आदि की तीन लेश्याओं का द्योतन मात्र किया गया है। अतः किसी स्वतन्त्र सूत्र में षड् लेश्याओं का नामनिर्देश करते हुए उन्हें 'लेश्या' शब्द से अभिहित न किये जाने से क्या यह मान लिया जाय कि तत्त्वार्थसूत्रकार के समय तक षड्लेश्याओं की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी? इसी प्रकार सप्तभंगी के सात भंगों का निरूपण पंचम आगम भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति)[१६२] में हुआ है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में उसका नाम तक नहीं है। तो क्या यह समझ लिया जाय कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक सप्तभंगी की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? तत्त्वार्थसूत्र में मुनियों के दिगम्बरमतानुसार २८ मूलगुणों का और श्वेताम्बर-आगम 'स्थानांग' (२७/१७८) के अनुसार २७ मूलगुणों का वर्णन नहीं है, तो क्या यह निर्णय कर लिया जाय कि ईसा की चौथी शताब्दी अर्थात् श्वेताम्बरमान्यतानुसार तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में मुनियों के २८ या २७ मूलगुणों की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी? तत्त्वार्थसूत्र में 'आर्यिका' शब्द का उल्लेख नहीं है, न ही आर्यिकाओं के लिए किसी आचारमार्ग का निर्देश है, तो क्या यह मान लिया जाय कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक स्त्रियों के दीक्षित होने की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में णमोकारमन्त्र का पाठ नहीं है, न ही पञ्चपरमेष्ठी के नामों का उल्लेख है, तो क्या यह स्वीकार कर लिया जाय कि ईसा की चौथी शताब्दी तक जैनधर्म में पञ्चपरमेष्ठी की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी?

---

१६२. "गोयमा, चउप्पएसिए खंधे सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वं-आया ति य नो आया तिय, सिय आया य नो आया य, सिय आया य अवत्तव्वं, सिय नो आया य अवत्तव्वं, सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं।" व्याख्याप्रज्ञप्ति १२/१०/३०(१)/पृष्ठ २३५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गुणस्थान-विकासवादी विद्वान् के तर्क से ऐसे अनेक विपरीत अर्थ फलित होते हैं, अतः उनका तर्क समीचीन नहीं है। 'तत्त्वार्थ' में तो अनेक सूत्रों के द्वारा चौदह गुणस्थानों तथा उनकी कारणकार्य-व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है, यदि यह भी न हुआ होता, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी, ठीक वैसे ही जैसे उसमें मुनियों के २८ या २७ मूलगुणों, 'आर्यिका' शब्द और उनके आचार तथा पञ्चपरमेष्ठी के नामों का उल्लेख न होने पर यह सिद्ध नहीं होता कि इनकी अवधारणाओं का विकास तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक नहीं हुआ था, क्योंकि इनका पूर्वभाव आगमप्रमाण से सिद्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का एक साथ निर्देश करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि पूर्वरचित ग्रन्थों में यह अनेकत्र किया गया है। सूत्रग्रन्थों का उद्देश्य सांकेतिक भाषा में विषयवस्तु का संक्षेप में प्रतिपादन करना होता है। अतः जिस विषय या सिद्धान्त की परिभाषा (व्याख्या) पूर्वरचित ग्रन्थों में हो चुकती है, या भेदों का निरूपण किया जा चुकता है, उसकी पुनरावृत्ति सूत्रग्रन्थ में नहीं की जाती, जब तक वह अनिवार्य न हो। उससे सम्बन्धित केवल पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण, अवग्रह, ईहा, अवाय, नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, एवंभूत, समभिरूढ, सम्मूर्च्छन, उपयोग, दर्शन, लेश्या, कषाय, मूर्च्छा, अनन्तानुबन्धी, संज्वलन, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, बादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशमक, क्षपक, परीषह आदि ऐसे ही पारिभाषिक शब्द हैं। इनमें से किसी की भी परिभाषा (व्याख्या) तत्त्वार्थसूत्र में नहीं की गयी है और केवल इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्वारा बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण कारण-कार्य-व्यवस्था प्रतिपादित कर दी गयी। इससे सिद्ध होता है कि इन पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ या इनका सैद्धान्तिक स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र से पहले रचे गये ग्रन्थों में स्पष्ट किया जा चुका है, उनमें वह बहुचर्चित है। यदि ऐसा न होता, तो तत्त्वार्थसूत्र में इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उन्हें परिभाषित किये बिना संभव न होता, क्योंकि उस स्थिति में इनसे अभिप्रेत या जिनागमसम्मत अर्थ ग्रहण करना असम्भव होता। अतः तत्त्वार्थसूत्र में चौदह गुणस्थानों का एक साथ निर्देश एवं व्याख्या किये बिना जो सम्यग्दृष्टि, अविरत, देशविरत आदि गुणस्थानविशेष-वाचक शब्दों का उल्लेख करते हुए ध्यानादिभेदों का स्वामित्व वर्णित किया गया है, उससे सिद्ध है कि गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में बहुचर्चित रहा है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in